श्रीमते रामानुजाय नमः ।। श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद-श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

।। हिन्दी श्रीभाष्य ।।

[अष्टम भाग]

सम्पादक:- जगद् गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र



स्वामी रामनारायणाचार्यजी महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)
साहित्य वेदान्ताचार्य; एम० ए० (द्वय)
वेदान्त विभागाध्यक्ष; श्रीहनुमत् सं०म० विद्यालय
हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति	मूल्य	श्रावणी पूर्णिमा
१०००	४। रुपये	२०३५ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक

१०८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य
प्रदायाचार्य श्रीपति पीठ षष्ठ सिंहासनाधिपति श्रीमत्परमहंस
परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय



श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्री त्रिदण्डिस्वामिन्
चार्य !

आपकी ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की
ामाला के इस अष्टम पुष्प से २०३५ वर्षीय श्रावण पूर्णिमा के
वन पर्व पर श्रीमत्क श्राचरणों को समलंकृत करने का साहस
। विश्वास से कर रहा हूँ कि श्रीमान् अपनी व‌ु को इस
व परिवेश में प्रेक्षण जन्य अमन्दानन्द का अनुभव करेंगे।

श्रीमत्कपदअपराग लिप्सु श्रीधराचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी
श्याम सदन कटरा, अयोध्या (उ० प्र०)

विषय सूची

आमोदः

—:※:—

विष्वक्सेनयतीन्द्राणां वन्दे पादाम्बुजद्वयम् ।
येषां शिष्य पञ्चास्यैः निरस्ता वादिवारणाः ॥

हिन्दी श्रीभाष्य के आठवें खण्ड का प्रारम्भ ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण से हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् के आनन्द वल्ली का 'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तरात्मा ऽऽनन्दमयः' वाक्य प्रसिद्धतम है। इस वाक्य का आनन्दमय शब्द विवादास्पद है। कुछ लोग आनन्दमय शब्द का वाच्यार्थ किसी जीव विशेष को इसलिए मानते हैं कि उस आनन्दमय शब्द वाच्य को ही 'तस्यैष एव शारीर आत्मा' श्रुति शरीरी बतलाती है। और शरीर से सम्बन्ध किसी जीव का ही हो सकता है। परं ब्रह्म का नहीं। क्योंकि शरीर का एक मात्र उपयोग है पूर्वकृत कर्मों के फलों का उसी के माध्यम से भोगना अतएव जीव की परिशुद्धावस्था ही आनन्दमय शब्दाभिधेय है। इस तरह उपर्युक्त आनन्दमय शब्दाभिधेय जीव विशेष को ही श्रुति अन्तर्यामी रूप से बतलाती है, यह पूर्वपक्षी का कहना है।

पूर्वपक्ष का खण्डन श्रीभाष्यकार 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इत्यादि सूत्रों के माध्यम से करते हुए कहते हैं कि आनन्दमय शब्द वाच्य परमात्मा ही है, क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषत् के आनन्द मीमांसा प्रकरण में एक सामान्य मानव के आनन्द की परिकल्पना करके बतलाया गया है कि— सप्तद्वीपा वसुमती के चक्रवर्ती साम्राट् जो सभी वेदों का यथातथाम ज्ञाता हो तथा जिसके राज्य में किसी प्रकार की अशान्ति तथा दुखद वातावरण नहीं हो, जिसके सभी परिजन पुरजन पूर्णरूप से अनुकूल हों, उसको जो आनंद मिलता है उसे मानव का एक आनन्द कहा जाता है। इस तरह पितृ-गन्धर्व देव इन्द्र-बृहस्पति ब्रह्मा, तथा उनके भी उपर के मुक्त आदि पुरुषों के क्रमशः शतगुणितोत्तर आनन्दाधिक्य की सीमा की कल्पना करती हुई श्रुति सर्वातिशायी ब्रह्म के आनन्द को बतलाती हुई उसको आनन्दमय बतलाती है। तथा उस आनन्द को ऐतावत्त्व रहित (सीमातीत) बतला कर उसे मन आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा वाणी आदि कर्मेन्द्रियों का कार्त्स्न्येन अविषय बतलाती हुए कहती है– 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' तथा ब्रह्मानन्द के आनन्दके आनन्त्य ज्ञान को अभय प्राप्ति का हेतु बतलाती हुइ कहती है–'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।' अतएव आनन्दमय शब्द परं ब्रह्म को ही बतलाता है।

अब रही बात आनन्दमय के शरीरी होने की तो इसमें भी कोई बात नहीं है। यस्यात्माशरीरम्' इत्यादि श्रुतियाँ तथा जगत् सर्वं शरीरं ते' 'तानिसर्वाणि तद्वपुः' 'तत्सर्वं वै हरेस्तनुः' इत्यादि स्मृतियां स्पष्ट रूप से परमात्मा को जगत् की आत्मा तथा जगत् को परमात्मा का शरीर बतलाती हैं। यह जो कहा गया है कि भोगायतनत्व ही शरीर का लक्षण है तो यह भी लक्षण अतिव्याप्त लक्षण होगा। क्योंकि जिन गृहादिकों में रह-

कर जीव अनेक प्रकार के भोगों को भोगा करते हैं वे गृह आदि भी शरीर के अन्तगत आ जायेंगे अतएव आत्मैकधार्य, आत्मैक नियाम्य तथा आत्मक भोग्य ही शरोर का लक्षण मानना चाहिये। परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र नैसर्गिक धारक नियामक तथा भोक्ता हैं अतएव उन्हें शरीरी होने में कोई आपत्ति नहीं। कर्म परतन्त्र जीव अपने पूर्व कृत कर्मों के अनुसार शरीरों को प्राप्तकर अपने अदृष्ट के अनुसार सुख दुःख आदि भोगों को भोगा करते हैं, किन्तु परमात्मा तो कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ हैं। अपनी ही इच्छा से लीला मात्र करने के लिए विविध प्रकार के विचित्र तथा दिव्य शरीरों को धारण कर लिया करते हैं। अतएव आनन्दमय शब्द वाच्य परमात्मा ही हैं।

यदि कहा जाय कि आनन्दमय शब्द का मयट् प्रत्यय आनन्द के विकार कार्य को बतलाता है, तो यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'तत्प्रकृतवचनेमयट्' सूत्र में भगवान पाणिनि प्राचर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय का पढ़ा है। अतएव आनन्द प्रचुर ही परमात्मा को आनन्दमय शब्द बतलाता है। इस अर्थ को सूत्रकार 'विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' सूत्र में बतलाते हैं किञ्च आनन्दवल्ली की 'एष ह्येवानन्दयाति' श्रुति स्पष्ट रूप से आनन्दमय को ही सबों के आनन्द प्रदान का एकमात्र आश्रय बतलाती है। उसी को ब्रह्मरूप से जानने वाले का मोक्ष प्राप्ति को बतलाती हुई श्रुति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम' कहती है तथा 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' श्रुति उसी का स्पष्टीकरण करती है। उस ब्रह्म को छोड़कर किसी नित्य मुक्त जीव का नहीं। साथ ही 'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः' श्रुति में विज्ञानमय वाच्य जीव से आनन्दमय को उसके अन्तर्यामी रूप से भिन्नता बतलायी गई है। उसी ब्रह्म की सृष्टि करने की सत्य

संकल्प रूपी इच्छा 'स ऐक्षत, एकोऽहं बहु स्याम' इत्यादि श्रुति बतलाती है। 'रसो वै सः। रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' श्रुति बतलाती है कि रस स्वरूप आनन्दमय परमात्मा को ही प्राप्तकर जीव आनन्दवान होता है। अतएव आनन्दमय शब्द से उक्त श्रुति में परमात्मा को ही बतलाया गया है।

अन्तरधिकरण में अन्तरादित्य विद्या तथा अन्तराक्षि विद्या में वर्णित पुरुष के परमात्मत्व का प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि आदित्य मण्डल में विद्यमान जिस रक्ताम्भोज दलामलायतेक्षण पुरुष का वर्णन है उसके धर्म किसी जीव में नहीं मिल सकते हैं।

अन्तरादित्य विद्या की--कप्यास श्रुति बहुचर्चित विषय है। इसकी व्याख्या मैंने भी यथाशक्य की है किन्तु उसकी विशद वैदुष्य पूर्ण व्याख्या जिज्ञासुजनों को हमारे परमाचार्य श्रीमद्वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभय वेदान्त प्रवर्तकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य पर्यन्तनिष्ठागरिष्ठ जगद्गुरु भगवदनन्दपादीय जगदाचार्य श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी महाराज प्रणीत छान्दोग्योपनिषद के हिन्दी भाष्य में देखना चाहिये।

अन्त में हम अपने विज्ञ कृपालु पाठकों के समक्ष प्रणतावनत हैं कि वे इन प्राथिल व्याख्या के दोषों पर ध्यान दिये बिना भी मुझ दास पर अपनी वात्सल्य भावना बनाये हुए हैं।

भागवतों का विधेय
शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)
व्यास सदन, कटरा
अयोध्या उ० प्र०

जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र



स्वामी रामनारायणाचार्य जी महाराज

कोसलेश सदन पीठाधीश्वर

कोसलेश सदन, कटरा अयोध्या (उ० प्र०)

❀ श्रीः ❀

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः ॥

हिन्दी श्रीभाष्य

(अष्टम भाग)

अस्मद् विघपरित्राण प्रेमप्रदाण मानसम्
वादिकेसरिणं वन्दे रम्यजामातरं मुनिम् ।

❀ आनन्दमयाधिकरण का प्रारम्भ ❀

मूल—एवं जिज्ञासितस्य ब्रह्मणश्चेतन भोग्य भूतजडरूप सत्वरजस्तमोभयप्रधानाद्व्यावृत्तिरुक्ताइदानीं कर्मवश्यात् त्रिगुणात्मक प्रकृति संसर्गनिमित्तनानाविधानन्त दुःख सागर निमज्जनेनाशुद्धाच्च प्रत्यगात्मनोऽन्यन्निखिलहेय प्रत्यनीकनिरतिशयानन्दं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते—आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥१३॥

अनु०— उपर्युक्त ईक्षति अधिकरण में बतलाया गया है कि जिस ब्रह्म की जिज्ञासा पहले सूत्र से बतलाई गई है वह ब्रह्म जीवों के भोग्य भूत जड़ रूप सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण प्रचुर प्रकृति से भिन्न है । अब इस अधिकरण में यह बतलाया जा रहा है कि ब्रह्म त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण अनेक

प्रकारके अनन्त दुःखसागर मे डूबने वाले बद्धजीवों तथा बद्ध मुक्त जीवों से भिन्न है और वह सारे त्याज्य दोषों का विरोधी तथा सीमातीत आनन्दरूप है। आनन्दमयाधिकरण का पहला सूत्र है– "आनन्दमयोऽभ्यासात्" अर्थात् वेदान्तों में जिसे आनन्दस्वरूप बतलाया गया है वह ब्रह्म ही है। क्योंकि उसका बार–बार उपदेश दिया गया है।

मूल— तैत्तिरीया अधीयते "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इति प्रकृत्य "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः इति, तत्र सन्देहः। किमयमानन्दमयो बन्ध मोक्षभागिनः प्रत्यगात्मनो जीवशब्दाभिलपनीयादन्यः परमात्मा उत स एव ? इति ॥ किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति कुतः ? 'तस्यैष एव शारीर आत्मा' इत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणात् शारीरो हि शरीर सम्बन्धी जीवात्मा ॥ ननु च जगत्कारणतया प्रतिपादितस्य ब्रह्मणः स्वरूप प्रतिपत्त्यर्थमन्नमयादीननुक्रम्य तदेव जगत्कारणमानन्दमय इत्युपदिशति जगत्कारणञ्च 'तदैक्षत' इतीक्षणात्सर्वज्ञः सर्वेश्वर इत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। सतु जीवान्नातिरिच्यते 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो, इति कारणतया

निर्दिष्टस्य जीवसामानाधिकरण्य निर्देशात् सामानाधिकरण्यं ह्येकत्वप्रतिपादनपरम् ॥ यथा सोऽयं देवदत्तः इत्यादौ । ईक्षापूर्विका च सृष्टिश्चेतनस्य जीवस्योपपद्यत एव । अतः ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति जीवस्याविद्यासंसर्ग वियुक्तं स्वरूपप्राप्यतयोपदिश्यते । अविद्यावियुक्तस्वरूपस्य लक्षणमिदमुच्यते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति तद्रूपप्राप्तिरेव हि मोक्षः । "न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति । अतो जीवस्याविद्यावियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतया प्रकान्तमानन्दमय इत्युपदिश्यते । तथा हि शाखाचन्द्रन्यायेनात्मस्वरूपं दर्शयितुम् अन्नमयः पुरुषः 'इति शरीरं प्रथमं निर्दिश्य तदन्तरभूतं तस्यधारकं पञ्चवृत्तिप्राणम् तस्याप्यन्तरभूतांच बुद्धिं 'प्राणमयो (तै० आन० अनु) मनो मयो (तै आन ३) 'विज्ञानमयः' इति तत्र तत्र बुद्ध्यवतरणक्रमेण निर्दिश्य सर्वान्तरभूतं जीवात्मानम् (तैः आन २ अनु)"अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः इत्युपदिश्यान्तरात्मपरम्परां समापयति । अतो जीवात्म स्वरूपमेव

ब्रह्मविदाप्नोति' इति प्रक्रान्तं ब्रह्म, तदेवानन्दमय इत्युपदिष्टमिति निश्चीयते ।

अनु०– तैत्तिरीय शाखा का अध्ययन करने वाले पढ़ते हैं 'निश्चय ही वह प्रसिद्ध पुरुष अन्नमय एवं रसमय है। यहाँ से प्रारम्भ करके आनन्द वल्ली की अन्तिम श्रुति बतलाती है। कि उस प्रसिद्ध विज्ञनमय आत्मा से भिन्न उसके भीतर रहने वाला जो आत्मा है वह आनन्दमय है। यहाँ यह सन्देह होता है कि– आनन्दमय शब्द से कहा जाने वाला बन्ध और मोक्ष के भागी प्रत्यगात्मा जीव शब्दाभिधेय से भिन्न परमात्मा है? अथवा जीव ही? यहाँ पर पूर्वपक्षी का कहना है कि जीव ही आनन्दमय शब्द से कहा गया है। क्योंकि 'उसका यह शरीरी आत्मा ही आत्मा है, इत्यादि श्रुतियों में आनन्दमय को शरीरी बतलाया गया है और शरीर वाला आत्मा ही शारीर शब्द से कहा जा सकता है।

यहाँ पर यदि कोई यह कहे कि जगत् के कारण रूप से प्रतिपादित ब्रह्म से ही सुख स्वरूपता के ज्ञान के लिए अन्नमय इत्यादि शब्द से प्रारम्भ करके उसे जगत के कारण रूप ब्रह्म को आनन्दमय रूप से उपदेश दिया गया है। पहले बतलाया जा चुका है कि तदैक्षत इत्यादि श्रुति में ईक्षण क्रिया का सम्बन्ध सुने जाने के कारण जगत् के

कारण सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर परमात्मा ही हैं। यह भी कहना ठीक है क्योंकि वह जगत का कारण भी जीव से भिन्न नही है। क्योंकि "इस जीवके साथ स्वयं प्रवेश करके; तथा 'श्वेतकेतो तुम भी वही हो' इत्यादि श्रुतियोंमें जिसे कारण रूप से बतलाया गया है, उसीका जीव के सामानाधिकरण्यरूप से निर्देश किया गया है। और 'यह वही देवदत्त है।' इत्यादि सामानाधिकरण्य वाक्यों में देखा जाता है कि सामानाधिकरण्य वाक्य एकत्व के प्रतिपादक होते हैं। और जीवकी भी ईक्षण क्रिया पूर्वक सृष्टि असम्भव नहीं हो सकती है। इसीलिए ब्रह्म ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करलेता है।' इत्यादि श्रुतियों में जीव का प्राप्य जड़ प्रकृति के संसर्ग(सम्बन्ध) रहित स्वरूप को बतलाया गया है। जड़ प्रकृति के संसर्ग (सम्बन्ध) से रहित स्वरूप का लक्षण बतलाते हुए श्रुति कहती है कि उस अवस्था में जीव 'सत्यस्वरुप, ज्ञानस्वरुप और अनन्तस्वरूप ब्रह्म (व्यापक) हो जाता है। इसलिए उसरूप की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं। छान्दोग्य श्रुति बतलाती है कि जबतक शरीर का सम्बन्ध बना रहता है, तब तक जीव के प्रिय; अप्रिय, रूप दुःख एवं सुख का सम्बन्ध समाप्त नहीं होता और निश्चय ही जब वह शरीर के सम्बन्ध से रहित हो जाता है उस समय उसे प्रिय अप्रिय रूप सुख दुःख स्पर्श नहीं करते' अतएव अविद्या (अज्ञान) से रहित स्वरूप ही जीव का प्राप्यरूप से प्रारम्भ करके आनन्द वल्ली उसका आनन्दमय रूप से उपदेश देती है। वह इस प्रकार से है–

श्रुति शाखा चन्द्र न्याय से उपदेश देने के लिए सर्व प्रथम जीव मन्न (पार्थिव) प्रचुर है। इस वाक्य के द्वारा सर्व प्रथम शरीर का निर्देश करके फिर उसके भीतर रहने वाले शरीर के धारक पाँच वृत्तियों वाले प्राण को फिर उसके भी अपेक्षा अन्तरंग मन को, पुनः उसके भी अपेक्षा अन्तरंग बुद्धि को प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय इत्यादि विभिन्न वस्तुओं को बुद्धि के अवतरण क्रम से निर्देश करके अन्त में सबों के भीतर रहने वाले (अन्तरङ्ग) जीवात्मा को ही 'उससे भी भिन्न उसके अपेक्षा अन्तरंग आत्मा आनन्दमय है'। इस श्रुति से उपदेश देकर आत्म परम्परा को समाप्त करती है। अतएव जीवात्मा के स्वरूप को ही ब्रह्म विदाप्नोति इस श्रुति के द्वारा प्रक्रान्त ब्रह्म कहा गया है। और उसी को आनन्दमय रूप से उपदेश दिया गया है यह निश्चय होता है।

टिप्पणी:-तत्र सन्देहः इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि आनन्दमय के विषय में शारीरत्व एवंआनन्द प्रचुरत्व सुना जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कारण वादी वेदान्त वाक्य शुद्ध आत्मा के स्वरूप को अथवा उससे भिन्न और आनन्दमय जो जीव अपनी शुद्धावस्था में रहने वाला जीवात्मा ही है अथवा परमात्मा ? किञ्च आनन्दमय का जो शरीर सम्बन्ध बतलाया गया है। यह सभी जीवात्माओं में पाया जाता है कि नहीं आनन्दमय शब्द में जो मयट् प्रत्यय है वह स्वार्थिक है या विका-

रार्थक ? या इन दोनों से भिन्न प्राचुरार्थक है ? इसी तरह विज्ञानमय शब्द में मयट् प्रत्यय केवल ज्ञान मात्र को ही बतलाता है अथवा जीव को भी ? यदि स्वार्थिक अथवा विकारार्थक माना जायगा, तो फिर सीमातीत आनन्द की प्रतीति न होने के कारण सामान्यतः जीव में भी आनन्द के पाये जाने से आनन्दमय शब्द को जीव का ही वाचक मानना होगा यदि मयट् प्रत्यय को प्राचुर्यार्थक माना गया तो फिर आनन्द की प्रचुरता ब्रह्म में ही पाये जाने के कारण आनन्दमय शब्द का वाच्यार्थ ब्रह्म को ही मानना होगा ।

मूलः—ननु च?'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यानन्दमयादन्यद्ब्रह्मेति प्रतीयते । नैवम, ब्रह्मैव स्वस्वभावविशेषेण पुरुषविधत्वरुपितं शिरः पक्षपुच्छरूपेण व्यपदिश्यते यथाऽन्नमयो-देहोऽवयवी स्वस्मादनतिरिक्तैः स्वावयवैरेव "तस्येदमेवशिरः, इत्यदिना शिरःपक्षपुच्छवत्तयानिर्दशितः तथाऽऽनन्दमयं ब्रह्मापि स्वस्मादनतिरिक्तैः प्रियादिभिर्निर्दर्शितम् तत्रावयवत्वेन रुपितानां प्रियमोदप्रमोदानन्दानामाश्रयतयाऽखण्डरूपमानन्दमयं ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे, त्युच्यते । यदि चानन्दमयादन्यद्ब्रह्माभविष्यत् 'तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मा ब्रह्म'

इत्यपि निरदेक्ष्यत, न चैवं निर्दिश्यते । एतदुक्तं भवति, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'(तै०आ०१)इति प्रक्रांतब्रह्म'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० आ१,१) इति लक्षणतस्सकलेतर-व्यावृत्ताकारं प्रतिपाद्य तदेव' तस्माद्वा एतस्मादा-त्मनः' इत्यात्मशब्देन निर्दिश्य तस्य सर्वान्तरत्वेनात्मत्वं व्यञ्जयद्वाक्यमन्नमयादिषु तत्तदंतरतया आत्मत्वेन निर्दिष्टान् प्राणमयादीनतिक्रम्य, 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (तै०आ०५-२) इत्यात्मशब्देन निर्देशमा-नंदमये समापयति । अतः आत्मशब्देन प्रकान्तं ब्रह्म आनंदमय इति निश्चियते ।

संगतिः—उपर के अनुच्छेद में सांख्य मतावलम्बी ने यह सिद्ध किया है कि आनन्दमय शब्द से जीवात्मा को ही अभिहित किया गया है। ब्रह्म को नहीं। इस पर अद्वैती विद्वान निम्न प्रकार की शंका करते हैं।

अनुवादः—प्रश्न यह उठता है कि उस आनन्दमय का "ब्रह्म ही पुच्छ और आधार है।" इस वाक्य को देखने से पता चलता है कि आनन्दमय से भिन्न ही ब्रह्म है। (क्योंकि इस वाक्य में अवयवी आनन्दमय और अवयव ब्रह्म प्रतीत होते हैं। अतएव आनन्दमय तथा ब्रह्म में अवयव अवयवी भाव

सम्बन्ध है। और सम्बन्ध दो में होता है। अतएव ब्रह्म और आनन्दमय भिन्न-भिन्न हैं।) तो अद्वैती विद्वानों की यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि—इस श्रुति में ब्रह्म ही स्वभाव विशेष के कारण पुरुष रूप से कल्पित किया गया है और स्वभाव विशेष रूप से वह शिर, पक्ष एवं पुच्छ आदि रूप से कल्पित करके कहा गया है। जिस तरह अन्न का विकार भूत शरीर जो अवयवी है वह अपने से अभिन्न अपने ही अवयवों के द्वारा उसका यह (दृश्यमान) शिर है। इत्यादि वाक्यों के द्वारा शिर, पक्ष पुच्छ आदि रूप से निर्दिष्ट किया गया है, उसी तरह आनन्दमय ब्रह्म भी अपने से अभिन्न प्रिय आदि पदों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। उसमें भी अवयव रूप से कल्पित प्रिय, मोद, प्रमोद, और आनन्दमय के आश्रय रूप से अखण्ड रूप आनन्दमय ही 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।' इस श्रुति के द्वारा कहा गया है।

यदि आनन्दमय से भिन्न ब्रह्म (जीव) होता तो फिर 'प्रसिद्ध इस आनन्दमय से भिन्न उसके भीतर रहने वाला दूसरा ब्रह्म है' यह भी निर्देश किया जाता, किन्तु श्रुति में ऐसा निर्देश किया नहीं गया है, अतएव सिद्ध होता है कि आनन्दमय से भिन्न ब्रह्म नहीं है। कहने का आशय यह कि—'ब्रह्म को जानने वाला मुक्त हो जाता है।' इस श्रुति में ब्रह्म का उपक्रम किया गया है। उसका 'ब्रह्म (जीव) सत्य स्वरूप ज्ञान स्वरूप एवं

अनन्त स्वरूप है।" इस श्रुति के द्वारा लक्षण बतलाकर उसे स्वेतर समस्त व्यतिरिक्त आकार वाला प्रतिपादित करके उसी का 'इस प्रसिद्ध आत्मा से' इस श्रुति के द्वारा आत्मा शब्द के द्वारा निर्देश करके, सबों की अपेक्षा अन्तरात्मा होने के कारण उसके आत्मत्व के व्यञ्जक वाक्य अन्नमय आदि में अन्तरंग रूप होने के कारण आत्मा रूप से निर्दिष्ट प्राणमय आदि का अतिक्रमण करके 'उससे भिन्न उसके भीतर रहने वाला आत्मा आनन्दमय है' इस श्रुति में आत्मा शब्द से निर्देश की समाप्ति की गयी है। अतएव निश्चित होता है कि जिस ब्रह्म (जीव) का निर्देश आत्मा शब्द से प्रारम्भ किया गया है वह आनन्दमय शब्द से यहां पर जीव का ही कहा गया है और वही ब्रह्म है। ब्रह्म और आनन्दमय में कोई भेद नहीं है।)

मूलः— ननु च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'

इत्युक्त्वा; असन्नेव सभवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः।' इति ब्रह्मज्ञानाज्ञानाभ्यामात्मनः सद्भावासद्भावो दर्शयति, नानंदमय ज्ञानाज्ञानाभ्याम्। न चानंनमयस्य प्रियमोदादिरूपेण सर्वलोक विदितस्य सद्भावासद्भावानाशंका युक्ता। अतो नानंदमयनधिकृत्यायं श्लोक उदाहृतः तस्मादानंदमयादन्यद् ब्रह्म।

अनुवाद:—यदि यहां पर कोई यह प्रश्न करे कि—'उस आनन्दमय का आधार एवं पुच्छ ब्रह्म है, यह कहकर श्रुति कहती है कि जो यह मानता है कि ब्रह्म नहीं है, उसकी सत्ता का अभाव हो जाता है। जो यह जानता है कि ब्रह्म है, उसकी सत्ता बनी रहती है यह पूर्वाचार्यों का कहना है।' यह श्रुति ब्रह्म के ज्ञान के द्वारा आत्मा का सद्भाव और ब्रह्म का ज्ञान न होने से आत्मा का असद्भाव हो जाता है। आनन्दमय के ज्ञान और अज्ञान के द्वारा नहीं। सर्वलोक प्रसिद्ध आनन्दमय के प्रिय मोद आदि रूप से सद्भाव असद्भाव के ज्ञान की शंका करना उचित नहीं होगी। अतएव आनन्दमय को विषय बनाकर यह उसका श्लोक (महिमा) कहा गया हो, ऐसी बात नहीं है। अतएव आनन्दमय से भिन्न ही ब्रह्म है।

मूल:—नैवम्। 'इद पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० आ० १। ३) 'पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० आ० २। ३) 'अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० आ० ३। ३) 'महः पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० आ० म २)

इत्युक्त्वा तत्रतत्रो दाहृताः 'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते इत्यादि श्लोका यथा न पुच्छ मात्र प्रतिपादन पराः अपि स्वन्नमयादिपुरुष प्रतिपादनपरा एव अत्राप्यानंद मयस्यायम् असन्नेव (तै० आ० ६-१)

इति श्लोक ! नानंदमयव्यतिरिक्तस्य पुच्छस्य । आनंदमयस्यैव ब्रह्म त्वेऽपि प्रियमोदादिरूपेण रूपितस्या परिच्छन्नानंदस्य सद्भावासद्भात्र ज्ञानाशंका युक्तैव पुच्छ ब्रह्मणोऽप्यपरिच्छिन्नानंदतयैव ह्यप्रसिद्धता । शिरः प्रभृत्यवयवित्वाभावाद् ब्रह्मणो नानंदमयो ब्रह्मेति चेन्, ब्रह्मणः पुच्छत्व प्रतिष्ठात्वाभावात्पुच्छमपि ब्रह्म न भवेत । अथाविद्यापरिकल्पतस्य वस्तुनस्तस्याश्रय भूत्वात् ब्रह्मणः पुच्छ प्रतिष्ठेति रूपणमात्रमित्युच्येत । हन्तर्हि तस्यासुखाद्ययावृत्तस्यानंद मयस्य ब्रह्मणः प्रियशिरस्त्वादि रूपण भविष्यति ।

अनुवाद :—उपर्युक्त प्रकार की शंका ठीक नहीं है। क्योंकि आनन्दवल्ली के प्रथम अनुवाक के अन्त में उसका यह ही पुच्छ और आधार है। दूसरे अनुवाक् के अन्त में पृथिवी पुच्छ और आधार है तीसरे अनुवाक् के अन्त में अथर्वांङ्गिरस पुच्छ एवं आधार है। चौथे अनुवाक् के अन्त में उसका तेज पुच्छ और आधार है। इत्यादि रूपसे कह कर श्रुति में अनेक स्थलों में उत्पन्न अन्न से ही प्रजायें उत्पन्न होती हैं इत्यादि स्तुति सूचक वाक्य जिस प्रकार से केवल पुच्छ का ही प्रतिपादन न करके अन्नमय आदि पुरुषों का भी प्रतिपादन किया करते हैं। उसी प्रकार यह असन्नेव इत्यादि यह श्लोक स्तुति

वाक्य) भी जो आनन्दमय की प्रशंसा करता है आनन्दमय से भिन्न पुच्छ मात्र का प्रतिपादन न करके आनन्दमय के ही ब्रह्म स्वरूप होने पर भी प्रिय, मोद, आदि रूप से कल्पित असीमित आनन्द स्वरूप के सद्भाव एवं असद्भाव के ज्ञान की आशंका उचित ही है पुच्छ ब्रह्म की भी असीमित आनन्द रूप से ही अप्रसिद्धि है सिर आदि ब्रह्म के अवयवी नहीं हैं आनन्दमय भी ब्रह्म नहीं हैं, इत्यादि प्रकार की शंका यदि की जाय तो फिर ब्रह्म के भी पुच्छ एवं प्रतिष्ठा रूप न होने के कारण पुच्छ भी ब्रह्म नहीं हो सकता। यदि कहें कि यहां पर अविद्या के द्वारा कल्पित वस्तु से ही उसका आश्रय होने का कारण ब्रह्म की केवल यहां पर आधार मात्र की कल्पना मात्र ही अभिप्रेत है तो फिर उसके आनन्द से भिन्न होने के कारण आनन्दमय ब्रह्म की शिरस्त्व आदि रूप से कल्पना होने लग जायेगी।

मूलः—एवञ्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इति विकाराः पदजड परिच्छिन्नवस्त्वन्तरव्यावृत्तस्यानुसारया वृत्तिः आनन्दमय इत्युपदिश्यते । ततश्चाखण्डैकरसानन्दरूपे ब्रह्मण्यानन्दमय इति मयट् प्राणमय इव स्वार्थिको द्रष्टव्यः । तस्मादविद्या परिकल्पित विविध विचित्रदेवादि भेद भिन्नस्य जीवात्मनः स्वाभाविकं ज्ञानाखण्डैकरसं सुखैकतानमानन्दमय इत्युच्यत इत्यानन्दमयः प्रत्यगात्मा ।

अनुवाद:—इस तरह सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यह श्रुति विकारास्पद जड़ एवं परिछिन्न दूसरी वस्तुओं से भिन्न सिर आदि रूप से कल्पित (प्रमुख) वस्तुओं से आनन्दमय की भिन्नता का उपदेश देती है। अतएव अखण्ड एक रस तथा आनन्द स्वरूप ब्रह्म में आनन्दमय शब्द का मयट् प्रत्यय को उसी तरह स्वार्थिक समझना चाहिए जिस तरह प्राणमय इत्यादि शब्दों में मयट् प्रत्यय स्वार्थिक है। इसलिए अविद्या के द्वारा कल्पित अनेक प्रकार के विचित्र देव आदि भेदों से भिन्न जीवात्मा का स्वाभाविक रूप ही अखण्ड एकरस एवं आनन्द मय शब्द से कहा गया है इसलिए आनन्दमय शब्द का वाच्यार्थ जीव ही है, ब्रह्म नहीं।

टिप्पणी:—ततश्च इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यह है कि अद्वैती विद्वानों ने आनन्दमय को जीव मानने में जिन-२ आपत्तियों को उठाया था। सांख्य मतावलम्बियों ने उन सबों का खण्डन कर दिया है। तथा युक्ति एवं प्रमाण के द्वारा आनन्दमय को जीव सिद्ध कर दिया है। यदि यहां अद्वैती विद्वान् यह कहें कि सोऽकामयत इस वाक्य में पुल्लिङ्ग तत् शब्द का प्रयोग कारण वस्तु को बतलाता है अतएव आनन्दमय को परमब्रह्म ही समझना चाहिये तो यह कहना ठीक नहीं है। व्यवहित की अपेक्षा अव्यवहित का ग्रहण उचित होता है इस नियम के अनुसार "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस वाक्य के बाद पढ़े गये 'तस्यैष एव शारीर आत्मा' इस वाक्य में पढ़े गये आत्मा शब्द के अव्यवहित होने के कारण जीव का ही वाचक आनन्दमय शब्द है।

सिद्धान्त :—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—आनन्दमयोऽभ्यासात् । आनन्द-मयः परमात्मा । कुतः ? अभ्यासात् । 'सैषानंदस्य मीमांसा भवति' इत्यारभ्य, यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्येथ मन्तेन वाक्येन शतगुणितोत्तरक्रमेण निरतिशयदशा-शिरस्कोऽभ्यस्यमान आनंदः अनन्तदुःखमिश्र परिमित सुखलव भागिनि जीवात्मन्यसंभवन् निखिलहेयप्रत्यनीकं कल्याणैकतानं सकलेतर विलक्षणं परमात्मानमेव स्वा-श्रयमावेदयति । यथाह—'तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञा-नमयात् । अन्योन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (तै० आ० ५ –२) इति विज्ञानमयो हि जीवः, न बुद्धिमात्रम्; मयट् प्रत्ययेन व्यतिरेक प्रतीतेः । प्राणमये स्वगत्या स्वार्थकता आश्रीयते । इहतु तद्वतो जीवस्य सम्भवा-न्नानर्थक्यं न्याय्यम् । बद्धो मुक्तश्च प्रत्यगात्मा ज्ञातै-वेत्यभ्यधिष्महि । प्राणमयादौ च मयडर्थसम्भवोऽनन्तर-मेव वक्ष्यते । कथं तर्हि विज्ञानमयविषयश्लोके 'विज्ञानं यज्ञं तनुते ।' इति केवल विज्ञान शब्दोपा-दानमुपपद्यते । ज्ञातुरेवात्मनः स्वरूपमपि स्वप्रकाशतया

विज्ञानमित्युच्यते इति न दोषः ज्ञानैक निरूपणीय-त्वाच्च ज्ञातुः स्वरूपस्य । स्वरूपनिरूपण धर्मशब्दा हि धर्ममुखेन धर्मिस्वरूपमपि प्रतिपादयन्ति गवादि-शब्दवत् । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० सू० ३ । ३ १३) इति वा कर्तरि ल्युडाश्रीयते । नन्दादित्वंवा-श्रित्य 'नन्दिग्रहि' इत्यादिना कर्तरि ल्युः । अत एव —'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इति यज्ञादिकर्तृत्वं विज्ञानस्य श्रूयते । बुद्धिमात्रस्य हि कर्तृत्वं सम्भवति । अचेतनेषु हि चेतनोपकरणभूते विज्ञानमयात् प्राचीनेस्वन्नमयादिषु न चेतनधर्मभूत कर्तृत्व श्रूयते । अतएव चेतनमचेतनं च स्वासाधारण निलयनत्वानिलयनत्वादिभिर्धर्मं विशेषैर्विभज्यनिर्दिशद्वाक्यम् 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति विज्ञान शब्द तद्गुणं चेतनं वदति ।

संगति :— सांख्यों ने आनन्दमय शब्द पर विचार करते हुए कहा गया है कि आनन्दमय शब्द जीव का वाचक है सांख्यों के उपयुक्त कथन का खण्डन प्रस्तुत अनुच्छेद में किया गया है ।

अनुवाद:-उपर्युक्त प्रकार के सांख्यों का पूर्व पक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं-'आनन्दमयोऽभ्यासात्' अर्थात् आनन्दमय परमात्मा ही है। क्योंकि उसके आनन्द की बार बार आवृत्ति की गयी है। आनन्दवल्ली में 'यह प्रसिद्ध आनन्द की व्याख्या है' इस वाक्य से प्रारम्भ करके 'जहां से वाणी निवृत्त होजाती है' इस श्रुति पर्यन्त के वाक्य द्वारा सौ-सौ गुणे के उत्तरोत्तर क्रम से सर्वोत्कृष्ट रूप से जिस आनन्द की आवृति की गयी है वह अनन्त दुखों से युक्त सीमित सुख पाने वाले जीव में असम्भव होने के कारण सभी त्याज्य दोषों के विरोधी कल्याणों के एक-मात्र आश्रय स्वेत्तर समस्त विलक्षण परमात्मा को ही अपना आश्रय बतलाता है; जैसा कि आनन्दवल्ली में भी कहा गया है कि-उस प्रसिद्ध विज्ञान प्रचुर जीवात्मा से भिन्न उनके भीतर अन्त-र्यामी रूप से रहने वाला आनन्द प्रचुर आत्मा (परमात्मा) है। इस श्रुति में जीवात्मा विज्ञानमय कहा गया है ज्ञान मात्र नहीं क्योंकि मयट् प्रत्यय के प्रयोग के द्वारा वह ज्ञान मात्र से भिन्न प्रतीति होता है। प्राणमय शब्द में तो कोई चारा (गति) नहीं, होने के कारण स्वार्थ में मयट् प्रत्यय माना जाता है। यहां पर तो जीव के ज्ञानवान् हो सकने के कारण मयट् प्रत्यय को अनर्थक मानना उचित नहीं है। मैं कह भी चुका हूँ कि बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था इन दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा ज्ञानवान् ही रहता है। और आगे ही हम कहेंगे के प्राणमय आदि में मयट् प्रत्यय के अर्थ की उपपत्ति सम्भव है।

यदि कहें कि तो फिर विज्ञानमय विषयक श्लोक में 'विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है' इस तरह से केवल विज्ञान शब्द का ग्रहण कैसे उपपन्न होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि ज्ञाता ही आत्मा का स्वरूप भी स्वयं प्रकाश है अतएव उसे विज्ञानमय कहा जाता है । इस तरह इसमें कोई दोष नहीं है । क्योंकि ज्ञाता आत्मा का स्वरूप ज्ञान स्वरूप ही है । गो आदि शब्द के ही समान अयुत् सिद्ध धर्म के वाचक शब्द धर्म के ही द्वारा धर्मी के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया करते हैं । विज्ञानम् शब्द में जो ल्युट प्रत्यय है उसको 'कृत्यल्युटो बहुलम् (पा० सू० ३ । ३ । ११३) के अनुसार कर्ता के अर्थ में समझना चाहिये अथवा उसको नन्दादिगण मानकर (नन्दिग्रहिपचादिभ्यः) (पा० सू० ३ । १ । १३४) इत्यादि सूत्र से कर्ता अर्थ ल्युट् प्रत्यय मान लेना चाहिये । इसी लिए तो 'विज्ञान यज्ञों तथा कर्मों का विस्तार करता है, इत्यादि वाक्य में विज्ञान के यज्ञादि कर्तृत्व आदि को सुना जाता है । केवल ज्ञान तो कर्ता हो नहीं सकता है । चेतन जीव के साधन भूत अचेतन (जड) विज्ञानमय से पहले वर्णित अन्नमय आदि में कर्तृत्व नहीं सुना जाता है, यद्यपि वे भी आत्मा के धर्मरूप ही हैं । इसी लिए चेतन एवं अचेतन का उनके असाधरण धर्म विशेष आश्रयत्व (निलयनत्व) एवं अनाश्रयत्व के द्वारा विभाग करके उनका निर्देश करने वाला वाक्य—विज्ञान और अविज्ञान को' इस वाक्य के विज्ञान शब्द के द्वारा ज्ञान गुणवान जीव को बतलाया गया है ।

टिप्पणी:—पूर्व पक्ष में आनन्दमयः पद को जीव का वाचक बतलाया गया है। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती का कहना है कि आनन्दमय शब्द जीव से भिन्न परमात्मा का ही वाचक है क्योंकि आनन्द वल्ली में आनन्द की मीमांसा करती हुई श्रुति बतलाती है कि—जिस युवक के सम्पूर्ण वेद अयातयाम हों, अपने सभी समवयस्कों का वह अध्यापक हो, निरोग तथा दृढ़ शरीर वाला हो उसका धनधान्य से परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी पर राज्य हो। उसको जो सुख प्राप्त होता है वह मनुष्य का एक आनन्द है। मनुष्य के सुख से मनुष्य गन्धर्वों का सुख सौ गुना महान् होता है। इसकी अपेक्षा देव गन्धर्वों का और देव गन्धर्वों की अपेक्षा पितरों का सुख सौ गुणा महान् होता है। उनकी अपेक्षा अजानज देवों का तथा अजानज देवों की अपेक्षा कर्मदेवों का सुख सौ गुना महान होता है। उनकी अपेक्षा देवों का और देवों की अपेक्षा इन्द्र का एक सुख सौ गुना महान् होता है। इन्द्र के सुख के सौ गुना बृहस्पति का सुख और उनकी अपेक्षा प्रजापति का एक आनन्द सौ गुना महान होता है। प्रजापति के सौ गुना ब्रह्मा का एक सुख महान् होता है। इस तरह बार-बार आनन्द को सौ गुना बतलाती हुई श्रुति ब्रह्म के एक आनन्द की कल्पना करती है। ब्रह्म के आनन्द के पश्चात् उससे महान् आनन्द की कल्पना न करके उसे श्रुति आनन्दमय बतलाती है। अतएव यहां पर आनन्दमय शब्द से ब्रह्म ही अभिहित किया जाता है। कोई जीव नहीं।

यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' श्रुति में ब्रह्म का ही अभिधान किया गया है ब्रह्मा का नहीं तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उससे पहले ही प्रजापति से चतुर्मुख ब्रह्मा का अभिधान किया जा चुका है। अत एव ब्रह्म शब्द परमात्मा का ही वाचक है ब्रह्मा का नहीं। किञ्च इसी प्रकरण में कहे गये 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। अत एव आनन्दमय शब्द प्रकृत ब्रह्म शब्द वाच्य परमात्मा का ही वाचक हैं।

इसलिए भी यहाँ पर आनन्दमय शब्द वाच्य परमात्मा है सर्वोत्कृष्ट सीमातीत आनन्द का भागी वह जीव नहीं हो सकता जो दुख प्रचुर सुखांशमात्र का उपभोक्ता है। उस सीमातीत आनन्द के भाजन तो अखिल हेय प्रत्यनीक अखिल कल्याण गुणाकर परमात्मा ही हो सकते हैं।

विज्ञानमय शब्द ज्ञानमात्र का वाचक नहीं होकर ज्ञानवान् जीव का ही वाचक है क्योंकि ऐसा मानने पर विज्ञानमय शब्द में प्रयुक्त मयट् प्रत्यय का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। उसे स्वार्थ में ही मानना होगा। यदि कहा जाय कि तो फिर प्राणमय में भी प्राणवान रूप ही अर्थ कहना होगा प्राण स्वरूप नहीं तो इसका उत्तर है कि प्राणमय में स्वार्थिक प्रत्यय छोड़कर किसी दूसरे अर्थ में मयट् प्रत्यय मानने के लिए कोई भी चारा नहीं है। अ

एव वैसा माना जाता है, और जीव को तो देखा जाता है कि वह ज्ञानवान होता है ज्ञानमात्र नहीं। अत एव स्वार्थिक मयट् प्रत्यय नहीं माना जा सकता है। बद्धमुक्त नित्य सभी प्रकार के जीव ज्ञानवान् हैं यह मैं पहले कह चुका हूँ।

विज्ञानं यज्ञं तनुते- श्रुति के विषय में एक यह शंका उठायी जाती है कि विशिष्टाद्वैती विद्वान ज्ञान मात्र का कर्तृत्व न स्वीकार कर ज्ञानवान का कर्तृत्व स्वीकार करते हैं। इसी लिए वे विज्ञानमय शब्द का अर्थ विज्ञानवान मानते हैं। किन्तु विज्ञानमय विषयक ही चर्चा करती हुई श्रुति आगे कहती है 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' ज्ञान मात्र ही जीव यज्ञ का विस्तार करता है' यहाँ पर तो मयट् प्रत्यय का प्रयोग देखा नहीं जाता है और श्रुति उसी का यज्ञादि कर्तृत्व बतलाती है। अतएव जीव मात्र मानने में कोई आपत्ति नहीं है। तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा ज्ञानवान् है फिर भी उसका स्वरूप स्वयं प्रकाश होने के कारण उसे ज्ञान स्वरूप कहा गया है। किन्च विपूर्वक ज्ञाधातु से कर्ता के अर्थ में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र से ल्युट् प्रत्यय होकर 'युवोरनाकौ' से यु का अन होकर विज्ञानम् बना है। अतएव विज्ञान शब्द का अर्थ में विज्ञानवान् ही है। अथवा नन्दादि गण मानकर यहाँ कर्ता अर्थ 'नन्दि ग्रहि' आदि सूत्र से कर्ता अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके विज्ञान शब्द बना है।

मूल०- तथान्तर्यामि ब्राह्मणे- 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (बृ०·

६।७।२३) इत्यस्य कण्व पाठगतस्य पर्यायस्य स्थाने 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति पर्यायनधीयाना माध्यन्दिनाः काण्वपाठगतं विज्ञानशब्दनिर्दिष्टं जीवात्मेति स्फुटी-कुर्वन्ति' विज्ञानमिति च नपुंसकलिङ्ग वस्तुत्वाभिप्रायम्। तदेवं विज्ञानमयान जीवादन्यस्तदन्तरः परमात्मा आनन्द मयः । यद्यपि विज्ञानं यज्ञं तनुते' इतिश्लोकेन ज्ञान मात्रमेवोपादीयते, न ज्ञाता, तथापि 'अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इति। तद्वान् ज्ञातैवोपादिश्यते, यथा-अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' (तै० आ० २।१) इत्यत्र श्लोके केवलान्नोपादानेऽपि स वा एष पुरुषो न्नरसमयः इत्यत्रनान्नमात्रं निर्दिष्टम् अपि तु तन्मयः तद्विकारः । एतत् सर्वं हृदिनिधाय सूत्रकारः स्वयमेव भेदव्यपदेशात् इत्यनन्तरमेव वदति ।

अनु०- इसी तरह अन्तर्यामी ब्राह्मण में- जो विज्ञान के भीतर रहता हुआ' इस काण्व पाठ के पर्याय स्थान में 'जो आत्मा के भीतर रहते हुए' इस पर्याय का अध्ययन करने वाले माध्यन्दिनी शाखा वाले इस बात को स्पष्ट करते हैं कि काण्व पाठ के विज्ञान शब्द से जीवात्मा का ही निर्देश किया गया है।

विज्ञानम् में जो नपुंसक लिङ्ग है वह उसके वस्तुत्व को बतलाता है। इस तरह इस श्रुति का अभिप्राय हुआ कि विज्ञानमय जीव से भिन्न उसके भीतर रहने वाला परमात्मा आनन्दमय है। यद्यपि 'विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है' इस श्लोक के द्वारा ज्ञान मात्र का ही ग्रहण होता है, ज्ञाता का नहीं, फिर भी 'उससे भिन्न उसके भीतर रहने वाला आत्मा विज्ञानमय है' इस श्रुति में विज्ञानवान ज्ञाता आत्मा का ही उपदेश किया जाता है। जैसे 'निश्चय ही अन्न से ही प्रजाएं उत्पन्न होती हैं।' इस श्लोक में यद्यपि केवल अन्न का ही ग्रहण किया गया है फिर भी 'निश्चय ही वह प्रसिद्ध पुरुष अन्नमय एवं रसमय है।' इस श्रुति में केवल अन्न मात्र का ही निर्देश न कर अन्नमय यानी अन्न के विकार भूत शरीर को बतलाया गया है। इन सारी बातों को हृदय में रखकर सूत्रकार स्वयं ही इस सूत्र के पश्चात् 'भेदव्यपदेशात्' इस सूत्र में बतलाते हैं। (यानी भेदव्यपदेशात् (१।१।१८) सूत्र में सूत्रकार ने ही जीवात्मा एवं परमात्मा के बीच होने वाले भेद को बतलाया है।'

मूल०— यदुक्तम्— जगत्कारणतया निर्दिष्टस्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) 'तत्त्वमसि' इति च जीवसामानाधिकरण्यनिर्देशाज्जगत्कारणमपि जीव स्वरूपान्नातिरिच्यत इति कृत्वा जीवस्यैव स्वरूपं 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति प्रक्रान्तसुखाद्या—

बृत्तत्वेनानन्दमय इत्युपदिश्यत इति । तदयुक्तम्— जीवस्य चेतनत्वे सत्यपि 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' इति स्वसंकल्प पूर्वकानन्तविचित्रसृष्टि-योगानुपपत्तेः । शुद्धावस्थस्यापि हि तस्य सर्गादि जगद् व्यापारासम्भवो— 'जगद्व्यापारवर्जम् (४।४।१७) 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' (४।४।२१) इत्यत्रोपपाद-यिष्यते । कारणभूतस्य ब्रह्मणो जीवस्वरूपत्वानभ्यु-पगमे 'अनेन जीवेनात्मना' 'तत्त्वमसि' इति सामाना-धिकरण्यनिर्देशः कथमुपपद्यत इति चेत्— कथं वा निरस्तनिखिलदोषगन्धस्य सत्यसंकल्पस्य, सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः अनवधिकातिशयासंख्येय कल्याणगुण-गणस्य सकलकारणभूतस्य ब्रह्मणः नानाविधानन्त दुःखाकर कर्माधीन विविधनिषिद्धादि सकलप्रवृत्ति जीवस्वरूपत्वम् ?

अनु०— पूर्व पक्षी ने यह जो कहा है कि— जिसे जगत् का कारण बतलाया गया है उसका 'इस जीव रूपी आत्मा के साथ प्रवेश करके' 'तुम वही हो' इत्यादि वाक्यों में चूंकि जीव के सामानाधिकरण्येन निर्देश श्रुति करती है अत एव जगत् कारण भी जीवस्वरूप ही है उससे भिन्न नहीं है । इसीलिए जीव के

ही स्वरूप को 'ब्रह्मज्ञानी परमपद को प्राप्त कर लेता है' इस श्रुति से प्रारम्भ करके अनुख (दुःख) से भिन्न होने के कारण आनन्दमय शब्द से उपदेश किया गया है। तो पूर्वपक्षी का कहना ठीक नहीं है। यद्यपि जीव चेतन (ज्ञानवान) है तो भी उसमें अपने संकल्प मात्र से 'उसने सत्यसंकल्प रूप ईक्षण किया किया कि मैं अनेक हो जाऊं, तदर्थ प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होऊं और उसने तेज की सृष्टि की, इत्यादि श्रुतियों में वर्णित सीमातीत अद्भूत सृष्टि का योग नहीं सिद्ध हो सकता है। आगे चलकर स्वयं सूत्रकार भी 'ब्रह्म सूत्र ४ ४।१७' में तथा (४।३।२१) में बतलायेंगे कि मुक्तावस्था में अविभूंत गुणाष्टक होने पर भी जीव जगद्व्यापार (सृष्टि, स्थिति तथा लय का कार्य नहीं करता है। जीव और ब्रह्म की जो मुक्तावस्था में समता बतलायी गयी है वह इसलिए कि जब मुक्तावस्था में ब्रह्म के समान ही समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है। इस तरह शुद्धावस्था में भी जीव सृष्टि आदि व्यापारों को नहीं कर सकता है तो फिर बद्धावस्था में उसकी क्या संभावना है ?

यदि पूर्वपक्षी यहाँ पर यह कहें कि— जगत् के कारणभूत ब्रह्म को जीवस्वरूप नहीं मानने पर 'अनेन जीवेनात्मना' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में उसके जीव के साथ सामानाधिकरण्य निर्देश की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? तो यहाँ हम यह पूछना चाहते हैं कि तो फिर सभी दोषों की गन्ध से भी रहित, सत्य संकल्पवाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न सीमातीत सर्वोत्कृष्ट असंख्य कल्याण गुणों के एकमात्र आश्रय, सम्पूर्ण जगत् के कारणभूत

ब्रह्म को जीव स्वरूप कैसे माना जा सकता है ? जो जीव अनेक प्रकार के सीमातीत दुखों का आश्रय है, तथा जो कर्म परतन्त्र होकर चिंतन एवं चेष्टाएं किया करता है ?

मूल— अन्यतरस्य मिथ्यात्वेनोपपद्यत इति चेत्; कस्य भोः? किं हेय संबन्धस्य ? किं वा हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वभावस्य ? हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्य ब्रह्मणोऽनाद्यविद्याश्रयत्वेन हेयसंबन्धमिथ्या प्रतिभासो मिथ्यारूप रूप इति चेत् विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते, ब्रह्मणो हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानत्वम् अनाद्यविद्याश्रयत्वेनानन्तदुःखविषय मिथ्याप्रतिभाश्रयत्वञ्चेति । अविद्याश्रयत्वं तत्कार्यदुःखप्रतिभासाश्रयत्वञ्चैव हि हेय संबन्धः । तत्संबन्धित्वं तत्प्रत्यनीकत्वञ्च विरुद्धमेव । तथापि तस्य मिथ्यात्वान्न विरोध इति मा वोचः । मिथ्याभूतमप्यपुरुषार्थं एव, यन्निरसनाय सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इति ब्रूपे । निरसनीयापुरुषार्थयोगश्च हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया विरुध्यते । किं कुर्मः ? येनाश्रुतं श्रुतं भवति इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय 'सदेव सोम्येदमग्रासीत् इत्यदिना निखिल-जगदेककारणताम्, 'तदैक्षत बहुस्याम्' इति सत्यसंकल्प-

ताञ्च ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तस्यैव ब्रह्मणः 'तत्त्वमसि' इति सामानाधिकरण्येनानंतदुःखाश्रय जीवैक्यं प्रतिपादितम्, तदन्यथानुपपत्त्या ब्रह्मण एव अविद्याश्रयत्वादि परिकल्पनीय मिति चेत्, श्रुतोपपत्तयेऽप्यनुपपन्नं विरुद्धञ्च न कल्पनीयम्।

अनु०– यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि ब्रह्म की जीव स्वरूपता की सिद्धि दोनों के स्वभाव में से एक को मिथ्या मान लेने से हो जाती है तो यहाँ पर जिज्ञास्य है कि किसके स्वभाव को मिथ्या मान लिया जाय? त्याज्य दोष ही से संबन्ध वाले जीव को अथवा हेय सम्बन्धों के विरोधी स्वभाव वाले तथा कल्याणों के एक मात्र आश्रयभूत ब्रह्म के स्वभाव को मिथ्या मान लिया जाय? यदि कहें कि त्याज्य दोषों के विरोधी कल्याणों के एक मात्र आश्रय ब्रह्म के अनादि अविद्या का आश्रय होने से त्याज्य दुखों के सम्बन्ध का भ्रान्तिज्ञान मिथ्या ही है, तो यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है। ब्रह्म का हेय प्रत्यनीकत्व, कल्याणैकतानाव तथा अनादि अविद्या आश्रय होने से अनन्त दुःख विषयक मिथ्याप्रतिभासाश्रयत्व ये सभी परस्पर विरोधी बातें हैं। अविद्या का आश्रयत्व तथा उसके कार्यभूत दुःखों की प्रतीति का आश्रयत्व ही हेय संबन्ध है। उसका संबन्ध है। उसका सबन्धी होना तथा उसका विरोधी होना परस्पर विरोधी बाते हैं। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि यद्यपि ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं फिर

भी उनके मिथ्या होने के कारण कोई विरोध नहीं है । क्योंकि यद्यपि ये मिथ्याभूत हैं फिर भी अपुरुषार्थ ही हैं। जिसका निरा करने के लिए सभी वेदान्त प्रवृत्त हैं, यह आप ही कहते हैं हेय प्रत्यनीक तथा कल्याणैकतान स्वरूप ब्रह्म से निरसनीय अपुरुषार्थ का योग भी विरुद्ध है ।

इस पर यदि यह कहा जाय कि क्या करें, श्रुति ही इ अर्थ का प्रतिपादन करती है, श्रुति प्रतिपादित अर्थ के विषय अपना कोई वश नहीं है क्योंकि जिसके जान लेने से अश्रुत व भी श्रुत हो जाती है' यह छान्दोग्य श्रुति एक विज्ञान से स विज्ञान की प्रतिज्ञा करके उसी ब्रह्म को 'हे सोम्य सदासीदहं सच्छि यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टि से पूर्व सद्रूप हो था' यह श्रुति सम्पू जगत् के अभिन्न निमित्तोपादानकरण बतलाती है । उस ब्रह्म सत्यसंकल्पता को 'उस परं ब्रह्म ने सत्य संकल्प रूप ईक्षण कि कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ" इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादि करके उसी ब्रह्म को तत्त्वमसि इस सामानाधिकरण्य निर्देश द्वारा अनन्त दुखों के आश्रय जीव के साथ एकता बतलाती है अतः अन्यथानुपपत्ति के कारण ब्रह्म में अविद्या के आश्रयत्व प्र की कल्पना करनी चाहिए । तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्यों श्रौत अर्थ की भी सिद्धि के लिए असिद्ध एवं विरुद्ध अर्थ की कल्प नहीं करनी चाहिए ।

टिप्पणी- श्रुतोपपत्तयेऽप्यनुपपन्नं विरुद्धञ्च न कल्पनीयम्

अभिप्राय है कि- ब्रह्म में अविद्याश्रयत्व आदि की कल्पना की सिद्धि अनुपपन्न (अप्रसिद्ध एवं तर्कापराहत) प्रमाण विरुद्ध है क्योंकि श्रुति ब्रह्म का वर्णन करती हुई कहती है कि- ब्रह्म का वर्णन करती हुई कहती है कि ब्रह्म सभी पापों से रहित है (अपहत पाप्मा , शोक एवं भूख सेरहित है (विशोको विजिघत्सः) यह सभी पापों (अविद्या आदि दोषों तथा उसके कार्यों) से ऊपर उठा हुआ है । (एष हि सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः ।) और जीव के स्वभाव का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है- माया से मुग्ध होकर वह सोचता रहता है (अनीशया शोचति मुह्यमानः) जब वह अपने नित्य सहचर अपने साथ सदा विद्यमान, प्रेमास्पद अपने से भिन्न तथा अन्तर्यामी रूप से नियामक परमात्मा का दर्शन कर लेता है (जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम् ।' उसी शरीर में रहने वाला जीवात्मा नियाम्या प्रकृति से बद्ध [तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ।' अत एव जीवात्मा एवं परमात्मा के ऐक्य की कल्पना तथा परमात्मा के अविद्याश्रयत्वादि कल्पना प्रमाण विरुद्ध है ।

मूल— अथ हेय संबन्ध एव पारमार्थिक, कल्याणैक स्वभावता तु मिथ्याभूता, हन्तैवं तापत्रयाभिहत चेतनाज्जिजीवयिषया प्रवृत्तं शास्त्रम् तापत्रयाभिहतिरेव तस्य पारमार्थिकी कल्याणैक स्वभावस्तु भ्रान्तिपरिकल्पित इति बोधयत् सम्यगुज्जीवयति । अथैतद् दोषपरिजिहीर्षया ब्रह्मणो निर्विशेषचिन्मात्र स्वरूपाति

रिक्त जीवत्वदुःखित्वादिकं सत्यसंकल्पत्व कल्याण गुणाकरत्व जगत् कारणत्वाद्यपि मिथ्याभूतमिति कल्पनीयमिति चेत्; अहो ? भवतां वाक्यार्थं पर्यालोचन कुशलता । एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञानं सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्य ज्ञातव्यस्याभावान्न सेत्स्यति । यथैकविज्ञानं परमार्थविषयम् तथैव सर्वविज्ञानमपि । यदि परमार्थविषयम् तदन्तर्गतञ्च तदा तज्ज्ञानेन सर्वविज्ञानमिति शक्यते वक्तुम् । नहि परमार्थं शुक्तिकाज्ञानेन तदाश्रयमपरमार्थरजतं ज्ञातं भवति ।

अनु० यहाँ पर पूर्वपक्षी यदि यह कहें कि ब्रह्म का हेय संबन्ध ही पारमार्थिक है उसका कल्याणमात्र स्वभावत्व तो मिथ्याभूत है। तबतो फिर आपके मतमें जीव और ब्रह्म में कोई भेद है नहीं दोनों एक ही है और सांसारिकतापत्रय से संतप्त चेतन का उज्जीवन करने की इच्छा से प्रवृत होने वाला शास्त्र यदि यह बतलाता है कि जीव की तापत्रय से संतप्त होते रहना ही वास्तविक स्थिति है उसका कल्याणगुणाश्रयत्व रूप स्वभाव तो भ्रांति परिकल्पत है, तो फिर वह जीवों का बड़ा अच्छा उज्जीवन करेगा । यदि इस दोष को दूर करने की इच्छा से ब्रह्म के निर्विशेष ज्ञानमात्र स्वरूप से भिन्न जीवात्मा जीवत्व, दुःखित्व आदि, तत्पदवाच्य

परं ब्रह्मके सत्यसंकल्पत्व, कल्याण गुणाकरत्व, जगत् कारणत्व आदि की भी मिथ्याभूत रूप से ही कल्पना करनी चाहिये तब तो फिर आप वाक्यों के अर्थ का पर्यालोचन करने में बड़े चतुर हैं। (अर्थात् आप वाक्यों के अर्थ का पर्यालोचन करना बिल्कूल नहीं जानते हैं।) किञ्च ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या मानने पर एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा की सिद्धि नही हो सकती हैं क्योंकि ब्रह्म व्यतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुएं जो ज्ञातव्य हैं वे तो मिथ्याभूत होने से अभावरूप है। जैसे एक विज्ञान परमार्थ (ब्रह्म) को अपना विषय बनाता है उसी प्रकार यदि सर्व विज्ञान का भी विषय परमार्थ हो और परमार्थ उस विषय के अन्तर्गत हो तब ही उस एक विज्ञान द्वारा सर्व विज्ञान होता है, यह कहा जा सकता है। (सत्यवस्तु के ज्ञान से मिथ्या वस्तु का ज्ञान कभी संभव नहीं है।) सत्य सीपी के ज्ञान से उसीको आधार बनाकर होने वाला अपरमार्थ रजत का ज्ञान नहीं हो सकता है।

टिप्पणी— यथैक विज्ञानम् परमार्थं विषयम् इत्यादि वाक्य का आशय है कि-- जैसे सम्पूर्ण परिषद् का ज्ञान होने से परिषद् के अन्दर विद्यमान पुरुषों का भी ज्ञान हो जाता है। किन्तु परिषद के बाहर रहने वाले पुरुषों का ज्ञान उससे नही होता है। उसी तरह सत्य ब्रह्म का ज्ञान होनेपर ब्रह्मान्तर्गत सभी सत्य वस्तुओं का ज्ञान संभव है; मिथ्या वस्तु जो ब्रह्म व्यतिरिक्त हैं उनका ज्ञान होना उसके द्वारा संभव

नहीं है। यह उसी तरह की बात है जिस तरह कोई यह नहीं कह सकता है कि सत्य रस्सी को जान लेने से रस्सी में भ्रम के कारण प्रतीत होने वाले मिथ्या सर्प, अम्बुधारा, भूविदलन इत्यादि का भी ज्ञान हो जाता है। क्योंकि वे सभी वस्तुएं तो मिथ्या हैं अतएव उनका अभाव है।

मू०— अथोच्येत— एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाय असमर्थः— निर्विशेष वस्तुमात्रमेव सत्यम्, अन्यदसत् मिति। न तर्हि येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्।' इति श्रुयेत, येन श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतं भवतीति ह्यस्य वाक्यार्थः। कारणतयोपलक्षितनिर्विशेष वस्तुमात्रस्यैव सद्भावश्चेत् प्रतिज्ञातः, 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातम्' इति दृष्टान्तो न घटते। मृत्पिण्ड विज्ञानेन हि तद्विकारस्य ज्ञातता निर्दर्शिता। तत्रापि विकारस्यासत्यताभिप्रेतेति चेत्; मृद्विकारस्य रज्जुसर्पादिवदसत्यत्वं शुश्रूषोरसिद्धमिति प्रतिज्ञानार्थसम्भावनाप्रदर्शनाय 'यथा सोम्य' इति प्रसिद्धवदुपन्यासो न युज्यते।

अनु०—यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि- एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का आशय यह है कि-केवल निर्विशेष वस्तु (ब्रह्म) ही सत्य है, तद्‌व्यतिरिक्त सभी वस्तुएं असत्य हैं, तो फिर श्रुति का स्वरूप 'येनाश्रुतं श्रुतममतमविज्ञातं विज्ञातम्' यह नहीं होगा। क्योंकि इस श्रुति का अर्थ है कि जिस ब्रह्म को सुन लेने से अश्रुत वस्तुएं भी श्रुत होजाती हैं. (जिसके मनन कर लेने से नहीं मनन की गयी वस्तुओं का भी मनन हो जाता है, तथा अविज्ञात वस्तुएं भो विज्ञात होजाती हैं।

किञ्च कारणरूप से उपलक्षित केवल निर्विशेष वस्तु की ही सत्यता की प्रतिज्ञा की गयी है, यह माना जाय तो फिर "हे सोमरसपानाहं सच्छिष्य जैसे एक मृत्पिण्ड के विज्ञान से उसके विकारभूत (कार्यभूत) सभीमृण्मय विज्ञात हो जाते हैं' यह श्रौत दृष्टान्त भी नहीं घट सकता है। क्योंकि इस दृष्टान्त में मृत्पिण्ड विज्ञान के द्वारा उसके विकार का ज्ञात होना बतलाया गया है।

यदि कहेंकि इस उदाहरण में भी विकारों की असत्यता ही अभिप्रेत है, तो फिर रज्जु सर्प आदि के समान मृद्विकार (घटशरावादि) की असत्यता शुश्रुषु को प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात नहीं हैं अतएव प्रतिज्ञात अर्थ की सम्भावना बतलाने के लिए श्रुति 'हे सोम्य जिस प्रकारसे' इस तरह प्रसिद्ध वस्तु के समान उपदेश देना सम्भव नहीं है। (चूंकि यहाँ पर उपदेश का प्रारम्भ श्रुति प्रसिद्धि के समान करती है, अतएव ज्ञात होता है

कि दृष्टान्त वाक्य में विकार वस्तु की असत्यता अभिप्रेत नहीं है

मू०— न च तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य ज्ञानोत्पत्तेः प्रा
कारजातस्यासत्यतामापादयत् तर्कानुगृहीतम् अननुगृ
तं वा प्रमाणमुपलभामहे इति । अयमर्थः—'तदनन्य
मारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यत्र वक्ष्यते । तथा—'सदे
सोम्येदमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६ ।२।१
'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३
'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽ
प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६ । ३ । २
'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्र
तिष्ठाःऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६ । ३ । २
इत्यादिनाऽस्य जगतः सदात्मकता, सृष्टेः पूर्वकाले
नामरूपविभागप्रहाणम्; जगदुत्पत्तौ सच्छब्दवाच्यस्य
ब्रह्मणः स्वव्यतिरिक्त निमित्तान्तरानपेक्षत्वम्, सृष्टि
काले अहमेवानन्तस्थिरत्रसरूपेण 'बहुस्याम्' इत्य-
नन्यसाधारणसंकल्पविशेषः, यथासंकल्पमनन्तविचित्र
तत्त्वानां विलक्षणक्रमविशिष्टा सृष्टिः समस्तेष्वचेत
नेषु वस्तुषु स्वात्मकजीवानुप्रवेशेनैवानन्तनामरूपव्या

करणम् स्वव्यतिरिक्तस्य समस्तस्य स्वमूलत्वम् स्वाय तनत्वम् स्वनियाम्यत्वम् स्वेनैवजोवनम् स्वप्रतिष्ठ-त्वम् इत्याद्यनन्तविशेषाः शास्त्रैक समधिगम्याः । तत्संबन्धितया प्रकरणान्तरेष्वप्यहतपाप्मत्वादि निरस्त निखिलदोषता; सर्वज्ञता, सर्वेश्वरत्वसत्यकामत्व सत्यसंकल्पत्वसर्वानन्दकरणनिरतिशयानन्दयोगादयः सकलेतरप्रमाणाविषयः सहस्रशः प्रतिपादिताः एवमनन्यगोचरानन्तविशेषविशिष्टप्रकृतब्रह्मपरामर्शि तच्छब्दस्य निर्विशेषवस्तुमात्रोपदेश परत्वमसंगत त्वेन उन्मत्त प्रलपितायेत । त्वं पदञ्च संसारित्वविशिष्ट जीववाचि । तस्यापि निर्विशेष स्वरूपोपस्थापन परत्वे स्वार्थः परित्यक्तः स्यात् । निर्विशेषप्रकाश स्वरूपस्य च वस्तुनो ह्यविद्यया तिरोधानं स्वरूप-नाश प्रसङ्गादिभिर्न सम्भवतीति पूर्वमेवोक्तम् । एवञ्चसति समानाधिकरणवृत्तयोः तत्त्वमितिद्वयोरपि पदयोः मुख्यार्थं परित्यागेन लक्षणा च समाश्रयणीया ।

अनु०—'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान से पहले विकार समुदाय की असत्यता का प्रतिपादन करने वाले तर्कानुगृहीत अथवा अननुगृहीत किसी प्रमाण की उपलब्धि नहीं होती है। इस अर्थ को 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः' इस सूत्र के श्रीभाष्य में हम (सिद्धान्ती) कहेंगे। कहने का आशय है कि–'हे सोमरस पानार्ह सच्छिष्य सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् सत् स्वरूप ही था वही अकेला एवं अद्वितीय था।' सृष्टि से पूर्व परमात्मा ने सत्य संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाउँ तदर्थ प्रकृष्टरूप से उत्पन्न होऊँ।' पृथ्वी, जल एवं तेज की सृष्टि करके परमात्माने सत्य संकल्प किया कि 'अरे मैं इन तीनों देवता (पृथ्वी, जल एवं तेज) में इस जीव सहित प्रवेश करके इनके नाम रूप का विभाग करूँ।' 'हे सोम्य ! ये सारी प्रजाएँ सन्मूलक है, इन सवों का आश्रय सत् शब्द वाच्य परमात्मा ही है, इन सवों की प्रतिष्ठा सत् शब्द वाच्य परमात्मा में ही है। यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मात्मक है।' इत्यादि सभी वाक्य इस जगत् को सदात्मक सृष्टि से पूर्व काल में जगत् के नाम रूप के विभाग का प्रहाण (नाश)' जगत् की उत्पत्ति में सत् शब्द वाच्य ब्रह्मका अपने से भिन्न किसी दुसरे कारण की अपेक्षा न करना, सृष्टि के समय में ही अनन्त जड जंगम रूप मे अनेक हो जाऊँ यह अनन्य साधारण संकल्प विशेप, उम संकल्प के ही अनुसार अनन्त अद्भून तत्त्वों की

विलक्षणक्रम विशेष से युक्त सृष्टि; सभी जड पदार्थों में ब्रह्म का जीव के साथ प्रवेश के द्वारा अनन्त नामों एवं रूपों का विभाजन, ब्रह्म का स्वेतर समस्त वस्तुओं का मूल होना, सबों का आश्रयहोना, ब्रह्म के ही द्वारा सम्पूर्ण जगत् की प्रवृत्ति, ब्रह्म के ही द्वारा सम्पूर्ण जगत् का जीवन, ब्रह्म में ही जगत् की प्रतिष्ठा इत्यादि ब्रह्म के अनन्त विशेषताओं का ज्ञान शास्त्रों के ही द्वारा ज्ञात होता है।

दूसरे प्रकरणों में भी ब्रह्म संबन्धी उसकी अकर्मवश्यत्व आदि के द्वारा अखिलहेय प्रत्यनीकता, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सत्य कामत्व सत्यसंकल्पत्व, सबों को आनन्दयुक्त करने के साथ उसमें सीमातीत आनन्द के योग आदि तथा वेद व्यतिरिक्त सभी प्रमाणों के अविषय व आदि हजारों ब्रह्म की विशेषताओं को वेद बतलाते हैं। इसतरह वेद मात्र प्रतिपाद्य अनन्त विशेष अविशिष्ट प्रकरण प्राप्त ब्रह्म को बतलाने वाले तत् शब्द का निर्विशेष वस्तु मात्र का प्रतिपादक मानना अनुचित होने के कारण प्रमत्त प्रलाप के समान ही है। तत्वमसि का त्वं पद संसारित्व विशिष्ट जीव का वाचक है। उसका भी स्वरूप निर्विशेष ही मानने पर उसके स्वार्थ [मुख्यार्थ] का त्याग हो जायगा। पहले ही (तिरोधानानुपपत्ति के प्रसङ्ग में) मै कह चुका हूँ कि निर्विशेष ज्ञानमात्र वस्तु को अविद्या के द्वारा तिरोधान का अर्थ होगा उसके स्वरूप का नाश, अतएव ब्रह्म का अविद्याश्रयत्व इत्यादि संभव नहीं है।

और निर्विशेष रूप अर्थ मानने पर सामानाधिकरण्य वाक्य तत्त्वमसि के तत् एवं त्वम् इन दोनों पदों में लक्षणा भी माननी होगी ।

मूल— अथोच्येत-समानाधिकरणवृत्तानामेकार्थं प्रतिपादनपरतया विशेषणांशे तात्पर्यासंभवादेव विशेषणनिवृत्तेः वस्तुमात्रैकत्व प्रतिपादनान्न लक्षणा प्रसङ्गः । यथा-'नीलमुत्पलम्' इति पदद्वयस्य विशेष्यैक प्रतिपादनपरत्वेन नीलत्वोत्पलत्वरूप विशेषणद्वयं न विवक्ष्यते । तद्विवक्षायां हि नीलत्वविशिष्टाकारेणोत्पलत्वविशिष्टाकार स्यैकत्वप्रतिपादनं प्रसज्येत । तत्तु न संभवति । नहि नैल्यविशिष्टाकारेण तद्वस्तूत्पलपदेन विशेष्यते जातिगुणयोरन्योन्य समवाय प्रसङ्गात् । अतो नीलत्वोत्पलत्वोपलक्षित वस्त्वेकत्वमात्रं सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते । तथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यतीतकाल विप्रकृष्टदेशविशिष्टस्य तेनैव रूपेण सन्निहितदेश वर्तमान काल विशिष्टतया प्रतिपादनानुपपत्तेः उभयदेशकालोपलक्षितस्वरूपमात्रैक्यं सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते । यद्यपि नीलमित्याद्येक पदश्रवणे प्रतीयमानं विशेषणं

सामानाधिकरण्यवेलायां विरोधान्न प्रतिपाद्यते । तथापि वाच्येर्थे प्रधानांशस्य प्रतिपादनान्न लक्षणा, अपितु विशेषणांशस्य अविवक्षामात्रम् । सर्वत्र सामा नाधिकरण्यस्यैव एव स्वभाव इति न कश्चिद् दोष इति ।

तदिदमसारम् । सर्वेष्वेव वाक्येषु पदानां व्युत्पत्ति सिद्धार्थं संसर्गविशेषमात्रं प्रत्याय्यम् । तत्र सामाना धिकरणवृत्तानामपि नीलादिपदानां नैल्यादिविशिष्ट एवार्थो व्युत्पत्तिसिद्धः पदान्तारार्थसंसृष्टोऽभिधीयते । यथा नीलमुत्पलमानय इत्युक्ते नीलिमादिविशिष्ट-मेवानीयते । यथा च– 'विन्ध्याटव्यां मदमुदितो मात ङ्गगणस्तिष्ठति' इति पदद्वयावगतविशेषण विशिष्ट एवार्थः प्रतीयते । एवं वेदान्तवाक्येष्वपि सामानाधि करण निर्देशेषु तदाद् विशेषणविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ।

अनु०— यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि चूंकि एक अधिकरण में रहने वाले सभी पद एक ही अर्थ का प्रतिपादन किया करते हैं । अतएव उनका विशेषण में तात्पर्य संभव नहीं होने के कारण ही विशेषण की निवृत्ति हो जाने से वस्तु मात्र की

एकता का प्रतिपादन करने से लक्षण का कोई प्रसङ्ग नहीं
जैसे 'नील कमल, इस वाक्य के दोनों पद विशेष्यकी एकता
प्रतिपादन करते हैं। उनकी विवक्षा नीलत्व एवं उत्पलत्व
दो विशेषणों के प्रतिपादन में नहीं है। उनकी वैसी वि
स्वीकार करने पर तो इस वाक्य का तात्पर्य नीलत्व विशि
कार विशिष्ट उत्पलत्व विशिष्टाकार वस्तु की एकता का प्र
पादन मानना होगा। और उक्त वाक्य का तात्पर्य ऐसा सं
नहीं है। क्योंकि इस वाक्य के नीलिमा विशिष्ट आकार
विशिष्ट उत्पल से विशेषित नहीं होता है। क्योंकि वैसा स्वीक
करने पर जाति और व्यक्ति को परस्पर में एक दूसरे का
दाय स्वीकार करना होगा। अतएव इस सामानाधिकरण्य वा
के द्वारा नीलत्व एवं उत्पलत्व के द्वारा उपलक्षित वस्तु की ए
मात्र का प्रतिपादन किया जाता है। जैसे– 'सोऽयं देवद
[यह वही देवदत्त है।] इस वाक्य का सः पद अतीत क
एवं विप्रकृष्ट देश विशिष्ट देवदत्त को तथा सः पद उसीरूप
सन्निहित देश वर्तमानकाल विशिष्ट देवदत्त को बतलाते हैं
किन्तु इन दोनों की एकता उपपन्न नहीं हो सकती है। अतः
मानना पड़ता है कि सन्निकृष्ट एवं विप्रकृष्ट देश तथा अ
एवं वर्तमानकाल के द्वारा उपलक्षित देवदत्त के स्वरूप मात्र
एकता के प्रतिपादन में ही इस सामानधिकरण्य वाक्य का ता
है। यद्यपि नीलम् इत्यादि एक पद को सुन लेने पर प्रती
होने वाला विशेषण सामानाधिकरण्य काल में विरोध के

कारण संभव नहीं है. फिर भी वाच्य अर्थ में प्रधान के अंश का प्रतिपादन करने के कारण लक्षणा न होकर विशेषणांश की विवक्षा का अभाव मात्र है। सब जगह सामानाधिकरण्य का स्वभाव यही पाया जाता है (अतएव तत्त्वमसि वाक्य का स्वरुप मात्र की एकता का प्रतिपादन मानने में कोई आपत्ति नहीं है।)

तो पूर्वपक्षी का उपर्युक्त कथन साररहित है। चाहे सामानाधिकरण्य वाक्य हों अथवा व्यधिकरण) सभी प्रकार के वाक्यों में पदों के व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ के संबन्ध विशेष मात्र का ही ज्ञान होना अपेक्षित होता है। उन वाक्यों में एक अधिकरण में रहने वाले भी नील आदि पदों को नैल्य आदि से विशिष्ट ही अर्थ व्युत्पत्ति से सिद्ध एवं पदान्तर के अर्थ से संबद्धरूप से कहा जाता है। जैसे 'नीलमुत्पलमानय' यह कहने पर नीलिमादि विशिष्ट ही उत्पल लाया जाता है। जैसे 'विन्ध्याटवी में मदमुदित मातङ्गगण निवास करता है' इस वाक्य में 'मदमुदितः मातङ्गगणः' इन दो पदों से ज्ञात विशेषण विशिष्ट ही अर्थ की प्रतीति होती है इसी प्रकार वेदान्त वाक्यों में भी जहाँ कहीं भी समान अधिकरण का निर्देश किया गया है वहाँ तत् तत् विशेषणों से विशिष्ट ही ब्रह्म को जानना चाहिये।

टिप्पणीः— नहि नैल्यविशिष्टाकारेण—इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि— विशेषण एवं विशेष्य को न तो समकाल में

अभिहित किया जा सकता है और न तो क्रम से। यदि सम काल में उन दोनों का अभिधान मानें तो फिर उद्देश्य एवं उपादेय के विभाग की हानी होगी। किञ्च-दो पदों के द्वारा उपस्थापित विशिष्टवस्तु की एकता का प्रतिपादन समानविभक्ति के द्वारा स्वीकार करने पर विशेष्य अंश के ही समान विशेष भूत जाति एवं गुण की भी एकता माननी होगी। यदि उनका क्रम से अभिधान मानें तो भी पूर्वपद के द्वारा प्रतीयमान आकार से विशिष्ट वस्तु का दूसरे पद के द्वारा ज्ञात आकार से विशिष्ट वस्तु से समान विभक्ति के द्वारा तादात्म्य माना जाय अथवा पूर्व पद के द्वारा ज्ञात विशिष्ट वस्तुओं में दूसरे विशेषण का सम्बन्ध माना जाय ? पहले पक्ष में तो विशेषण भूत जाति एवं गुण की भी एकता माननी होगी और दूसरे पक्ष में परस्पर में समवायत्व का प्रसङ्ग होगा।

सर्वेष्वेववाक्येषु— इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यह है कि चाहे समानाधिकरणक वाक्य हो याव्यधिकरणक उन सभी वाक्यों में पदों के व्युत्पत्तिसे सिद्ध होने वाले अर्थ के सम्बन्ध विशेष की प्रतीति कराना आवश्यक होता है। प्रत्येक वाक्यों में पदों के अर्थ भेद की व्युत्पत्ति की कल्पना नहीं की जाती है। 'क्लृप्त कल्प्य विरोधे तु युक्तः कलृप्त परिग्रहः' इस न्याय से प्राप्त व्युत्त्तिर के द्वारा ही स्वार्थ का वोध सम्भव होने से दुसरी व्युत्पत्ति की कल्पना उचित नहीं है। इसी तरह समानाधिकरणक

वाक्य में भी पदों की दूसरी व्युत्पत्ति की कल्पना नहीं की जानी चाहिए, जो प्रवृत्ति निमित्त से अविशिष्ट अर्थ को अपना विषय बनाती हो। दूसरी व्युत्पत्ति के अभाव में भी वाक्यों की आपस में विषमता की सिद्धि का प्रतिपादक व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ का संबन्ध विशेष मात्र है। व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ के संबन्ध विशेष के ही कारण वाक्य में विषमता हो जाती है नकि प्रकृत्यंश की व्युत्पत्ति से नहीं ज्ञात होने वाले अर्थान्तर की कल्पना के कारण। इनमें समानाधिकरणक वाक्य विशिष्ट एकार्थ के प्रतिपादक होते हैं। जैसा कि 'नीलमुत्पलम्' विन्ध्यटव्यां मदमुदितो मातङ्गगणस्तिष्ठति' इत्यादि वाक्यों में देखा जा सकता है। यदि समानाधिकरण्य वाक्य के पदों के द्वारा वस्तु मात्र का ही ज्ञान होता तो 'नीलमुत्पलम्' कहने पर भी वस्तु मात्रके होने के कारण नीलव्यतिरिक्त रक्त इत्यादि भी कमल लाया जाता। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है अपितु नीलत्व विशिष्ट ही वस्तु लायी जाती है। इससे पता चलता है कि समानाधिकरण्य वाक्य के पद वस्तुमात्र के बोधक न होकर विशिष्ट पदार्थ के बोधक होते हैं।

किञ्च समानाधिकरणक पदों के विशेषण के परित्याग का कारण क्या है? यदि कहें कि समान विभक्ति के द्वारा ज्ञात होनेवाली एकता ही है तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि प्रातिपदिक के द्वारा ज्ञात विशेषण के संबन्ध के कारण समान विभक्ति अर्थ की एकता का प्रतिपादन नहीं कर सकती है; क्यों

कि विभक्त्यर्थ की अपेक्षा प्रातिपदिकार्थ प्रधान होता है। क्यों देखा जाता है कि 'अदितिः पाशान्' 'गृहं सम्मार्ष्टि' इत्य वाक्यों में देखा जाता है कि विभक्त्यर्थ को अनादृत कर दि जाता है।

यदि यह कहा जाय कि चूंकि समानाधिकरण्य वाक्य पदों का प्रयोग समानार्थ.विषयक होता है. अतएव विषयकी एक स्वीकार करनी चाहिये। तो इसका उत्तर है कि समानाधिकर वाक्यों में विशेषण का भी अन्वय देखने से समानाधिकर वाक्य को विशेषण का प्रतिपादक मानना चाहिये। यदि कि शब्द प्रमाण के द्वारा तो वस्तुमात्र की प्रतीति होती है विशेष का संबन्ध तो 'नीलमुत्पलम्' इत्यादि वाक्यों में प्रत्यक्ष के द्वार स्वीकार करना पड़ता है। जिसप्रकार प्रत्यक्ष के अप्रत्यक्ष विषय में शब्द के द्वारा विशेषण की प्रतीति नहीं होती है। उसीतरह नीलमुत्पलम् आदि में भी जानना चाहिये। तो मैं पूछता हूँ कि विशेषण की प्रतीति ही शब्द प्रमाण का विषय है। वस्तु की प्रतीति तो प्रत्यक्ष के द्वारा स्वीकार करनी पड़ती है. ऐसा क्यों नहीं मान लिया जाय ? अतएव उपर्युक्त कथन ठीक नहीं इसी अर्थ को हृदय में रखकर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विषयक दो प्रकार के उदाहरण भाष्य में दिये गये हैं।

सू०— न च विशेषण विवक्षायाम् इतरविशिष्टा... वस्त्वन्येन विशेषटव्यम्। अपितु सर्वैर्विशेषणैः स्व...

मेव विशेष्यम् । तथा हि- 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्' इति अन्वयेन निवृत्त्या वा पदान्तर प्रतिपाद्याकारात् आकारान्तरयुक्ततया तस्यैव वस्तुनः पदान्तरप्रतिपाद्यत्वं सामानाधिकरण्यकार्यम् । यथा- 'देवदत्तः श्यामो युवा लोहिताक्षोऽदीनोऽकृपणोऽनवद्यः' इति । यत्र त्वेकस्मिन् वस्तुनि समन्वयायोग्यं विशेषणद्वयम् समानाधिकरण पदनिर्दिष्टम्, तत्राप्यन्यतरत् पदम् मुख्यवृत्तमाश्रीयते, न द्वयम्; यथा 'गौर्वाहिकः, इति । नीलोत्पलादिषु तु विशेषणद्वयान्वयाविरोधादेकमेवोभय- विशिष्टं प्रतिपाद्यते ।

अनु०—यहाँ पर पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकते हैं कि समानाधिकरण्य वाक्य में विशेषण की विवक्षा स्वीकार करने पर किसी अन्य विशेषण से विशिष्ट आकार को अन्य वस्तु में विशेषित करना चाहिये। तो यह कहना उचित इसलिए नहीं है कि सामानाधिकरण्य में सभी विशेषणों के द्वारा स्वरूप को ही विशेषित किया जाता है। क्योंकि सामानाधिकरण्य का लक्षण है कि जहाँ पर भिन्न भिन्न प्रवृत्ति निमित्त वाले पद किसी एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हों वहाँ पर सामानाधिकरण्य वाक्य होता है। अन्वय के द्वारा अथवा निवृत्ति के द्वारा वस्तु के

पदान्तर के द्वारा प्रतिपाद्य आकार से भिन्न आकार युक्त ह
मे उसी वस्तु के पदान्तर प्रतिपाद्यत्व का प्रतिपादन समानाधि
करण पद समुदाय का कार्य है। जैसे—देवदत्त श्याम युवक ला
आँखों वाला, धनी. एवं उदार है। इस वाक्य में।

और जहाँ पर एक ही वस्तु में समन्वय न होने योग्य द
विशेषणों का निर्देश समानाधिकरण पद करते हैं वहाँ भी दोन
में से किसी एक पद को अमुख्यार्थक मान लिया जाता
वहाँ पर भी दोनों पदों को अमुख्यार्थक नहीं माना जाता
जैसे गौर्वाहिकः में। 'नीलोत्पलम्' इत्यादि वाक्यों में तो दोन
विशेषणों के सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं होने के कार
दोनों विशेषणों से विशिष्ट एक ही वस्तु प्रतिपादित कि
जाता है।

टिप्पणी—समानाधिकरण वाक्यों के पद यदि ऐसे विशे
षणों का अभिधान करते हैं जिनमें परस्पर में अन्वय होने
कोई बाधा नहीं होती है, ऐसे स्थान में तो किसी पद को अम
ुख्यार्थक मानने की कोइ आवश्यकता ही नहीं होती है औ
जहाँ पर सामानाधिकरण्य वाक्य के पद ऐसे दो विशेषणों
अभिधान करते हैं जिनका अन्वय होने में परस्पर में विरो
होता है, ऐसे स्थल में ही किसी एक ही पद अमुख्यार्थक स्वी
कार की जाती है। जैसे 'गौर्वाहिकः' इस वाक्य में। यह वाक
गौ और वाहिक की अभेदता को बतलाता है। किन्तु वाहि
तो मनुष्य है यह चौपाया गौ नहीं हो सकता अतएव यहाँ

गो पद की गौणी लक्षणा होती है। और इस वाक्य का तात्पर्य माना जाता है कि जिस तरह का जाड्य मान्द्य गौ में पाया जाता है उसीतरह के जाड्य मान्द्य आदि गुणों से विशिष्ट वाहिक है। अतएव यह मानना कि सामानाधिकरण्य वाक्य स्वरूप मात्र के उपस्थापक होते हैं, उचितनहीं है।

विशेषण भेद से विशेष्य भेद की शंका का खंडन ।'

मूल०— अथमनुषे— एकविशेषण प्रतिसम्बन्धित्वेन निरूप्यमाणं विशेषणान्तर प्रतिसम्बन्धित्वाद् विलक्षणमिति घटपटयोरिवैक विभक्ति निर्देशेऽपि ऐक्यप्रतिपादना-सम्भवात् समानाधिकरण शब्दस्य न विशिष्ट प्रति-पादन परत्वम्, अपि तु विशेषणमुखेन स्वरूपमुपस्थाप्य तदैक्यप्रतिपादन परत्वमेवेति ।

स्यादेतदेवम्, यदि विशेषणद्वय प्रतिसंबन्धित्व-मात्रमेवैक्यं निरून्ध्यात् । न चैतदस्ति, एकस्मिन् धर्मिणि उपसंहर्त्तुमयोग्यधर्मद्वयविशिष्टत्वमेव ह्येकत्वं निरुणद्धि । अयोग्यता च प्रमाणान्तरसिद्धा घटत्व-

पटत्वयोः नीलमुत्पलमित्यादिषु तु दण्डित्व कुण्डलित्व वद्रूपवत्त्व रसवत्त्वगन्धवत्त्वादिवच्च विरोधो नोपलभ्यते । न केवलमविरोध एव, प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैकार्थं निष्ठत्वरूपं सामानाधिकरण्यमुपपादयत्येव धर्मद्वय विशिष्टताम् । अन्यथा स्वरूपमात्रैक्ये अनेकपदप्रवृत्तौ निमित्ताभावात् सामानाधिकरण्यमेव न स्यात् । विशेषणानां स्वसंबन्धानादरेण वस्तुस्वरूपोपलक्षणपरत्वे सत्येकेनैव वस्तूपलक्षित मित्युपलक्षणान्तरमनर्थकमेव । उपलक्षणान्तरोपलक्ष्य का रभेदाभ्युपगमे तेन कारेण सविशेषत्व प्रसङ्गः । सोऽयं देवदत्त इत्यत्राऽपि लक्षणागन्धो न विद्यते । विरोधाभावात् देशान्तर संबन्धितयाऽतीतस्य सन्निहित देशसंबन्धितया वर्तमानत्वाविरोधात् । अत एव हि सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञया कालद्वयसंबन्धिनो वस्तुन ऐक्यमुपपाद्यते वस्तुनः स्थिरत्वादिभिः, अन्यथा प्रतीति विरोधे सति सर्वेषां क्षणिकत्वमेव स्यात् । देशद्वयसंबन्ध विरोधस्तु कालभेदेन परिह्रियते ।

अनुवाद– यहाँ पर पूर्व पक्षी यह कहें कि जिस तरह घटः पटः में एक विभक्ति का निर्देश होने पर भी घटत्वावच्छिन्न पदार्थ से भिन्न हो होता है उसी तरह से एक विशेषण से विशिष्ट रूप से निरूप्यमान [विवक्षित] वस्तु दूसविशेषण से विशिष्ट वस्तु से भिन्न ही होगी। अत एव एक विभक्ति का निर्देश होने पर भी उन दोनों [भिन्न-भिन्न विशेषणों से विशिष्ट] वस्तुओं की एकता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। अत एव समान अधिकरण वाले शब्द पर भी विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन न करके विशेषण के द्वारा केवल वस्तु के स्वरूप को उपस्थित करके उसकी एकता का प्रतिपादन किया करते हैं। तो यह तब हो संभव हो सकता है जब कि दो विशेषण से विशिष्ट होना हो वस्तु की एकता का अवरोधक हो। किन्तु बात तो ऐसी है नहीं। ऐसे दो धर्मों की विशिष्टता ही धर्मी वस्तु की एकता का अवरोधक होता है जिन दोनों धर्मों का समावेश एक धर्मी में नहीं हो सकता है। उस अयोग्यता की सिद्धि प्रमाणान्तर से हुआ करती है। जैसे– 'घटः-पटः' इस वाक्य में प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है कि घटत्वावच्छिन्न और पटत्वावच्छिन्न दोनों एक नहीं हो। 'नीलमुत्पलम्' इस समानाधिकरण्य वाक्य में तो नीलत्वावच्छिन्न एवं उत्पलत्वावच्छिन्न वस्तु की एकता उसी तरह अविरुद्ध है जिस तरह किसी दण्डधारी कुण्डल पहने हुए व्यक्ति की दण्डित्वावच्छिन्न एवं कुण्डलित्वावच्छिन्न होना। अथवा किसी रूप रस एवं गन्धवान् वस्तु

के रूपत्व रसत्वत्व एवं गन्धवत्त्वावच्छिन्न होने में जिस तरह विरोध नहीं है उसी तरह का अविरोध नीलत्वावच्छिन्न एवं उत्पलत्वावच्छिन्न वस्तु में जानना चाहिए । नीलमुत्पलम् में केवल विरोध का अभाव मात्र ही नहीं है अपितु यह बतलाते भी हैं कि प्रवृत्ति निमित्त के भेद के द्वारा अपनी एकार्थ निष्ठता-रूप सामानाधिकरण्य का प्रतिपादन करने वाले पदों द्वारा प्रतिपादित अर्थ दो धर्मों से विशिष्ट हुआ करते हैं । यदि विशेषण का त्याग करके सामानाधिकरण्य वाक्य के पदों के द्वारा केवल स्वरूपमात्र की एकता का उपस्थापन माना जाय तो फिर अनेक पद की प्रवृत्ति होने पर निमित्त का अभाव होने से उस वाक्य के सामानाधिकरण्यत्व की सिद्धि ही नहीं हो सकती है ।

(यदि कहें कि विशेषण का त्याग कर देने पर भी सामानाधिकरण्य वाक्य के पद उसी प्रकार निमित्त होंगे जिस तरह उपलक्षण वाक्य के पद होते हैं तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि) विशेषणों का अपने संबन्ध का अनादर करने से उनके (वस्तु के) स्वरूप का उपलक्षक होने पर भी एक ही पद के द्वारा जब वस्तु उपलक्षित हो गयी तो फिर दूसरे उपलक्षक पद अनर्थक ही होंगे । यदि कहें कि समानाधिकरण्य वाक्य के दूसरे उपलक्षण भूत पद उपलक्ष्य वस्तु के दूसरे आकार के आपादक होते हैं, तो फिर उस प्रकारान्तर के द्वारा ही वस्तु के सविशेषत्व की सिद्धि हो जाती है ।

'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में भी लक्षणा की गन्ध भी

नहीं है, (क्योंकि लक्षण होने के लिए मुख्यार्थबाध रूप विरोध का होना आवश्यक है और यहां पर तो) विरोध है ही नहीं। देशान्तर में विद्यमान अतीत कालिक वस्तु की वर्तमान काल में सन्निकट देश में रहने में को कोई विरोध नहीं है। इसीलिए ,यह वही है' इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा दो काल से संबन्ध रखने वाली वस्तु को स्थिरता आदि के द्वारा उसकी एकता की सिद्धि होती है। यदि वस्तु की स्थिरता नहीं स्वीकार की जाय तो दो काल के संबन्ध रूपी विरोध के द्वारा वस्तु की स्थिरता विषयक विरोध होने से सभी वस्तुओं की क्षणिकता ही सिद्ध होगी। वस्तु के दो देशों के संबन्ध से होने वाले विरोध का परिहार तो काल के भेद के ही द्वारा हो जाता है। (क्योंकि अतीत काल में देशान्त से वस्तु का संबन्ध हुआ वर्तमान काल में सन्निहित देश से वस्तु का संबन्ध है, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है।]

टिप्पणी—देशान्तर संबन्धितयाऽतीतस्य–इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि वस्तु के विशेषण रूप से निर्दिष्ट देशान्तर का संबन्ध तथा सन्निहित देश का संबन्ध अतीतकाल एवं वर्तमान काल के उपाधि रूप हैं। यह काल रूप दूसरी उपाधियों का उपलक्षण है। भाष्य के अतीत और वर्तमान शब्द अतीत काल और वर्तमान काल को बतलाते हैं। देशान्तर संबन्धितयाऽतीतस्य का अर्थ है कि देशान्तर से सम्बन्ध आदि उपाधियों से युक्त अतीतकाल सम्बन्धी वस्तु का सन्निहित देश संबन्ध आदि उपा

धियों से युक्त वर्तमान काल के संबन्ध से कोई विरोध नहीं है

इस वाक्य में अतीतत्व शब्द प्रयोग के आधार भूत का की अपेक्षा बतलाया गया है। लोक में भी किये जाने वा शब्द के प्रयोग के काल पूर्व के काल को अतीत काल कहते हैं और शब्द प्रयोग के पश्चात् आनेवाले काल को आगामी का कहा जाता है। यहां पर जो पूर्व पक्षी ने यह कहा है कि चूँकि एक ही वस्तु का संबन्ध अतीत एवं वर्तमान काल से संबन्ध नहीं हो सकता है। उसका क्या अभिप्राय है? क्या य कि प्रध्वस्त वस्तु का वर्तमान से सम्बन्ध नहीं हो सकता है यह? ऐसा तो इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि वस्तु का प्रध्वंस तो माना नहीं जाता है। यदि कहने का अभिप्राय य हो कि जिस वस्तु का अतीत काल से संबन्ध हो गया उसका वर्तमान काल से संबन्ध होना ही विरोध है, तो यहाँ पर हम यह जानना चाहेंगे कि क्या अपने अपेक्षा अतीत काल से संबन्ध वाले को आप यहां कह रहे हैं अथवा अन्य की अपेक्षा प्रथम पक्ष इसलिए ठीक नहीं है कि घटादिका अपने अपेक्षा अतीत काल से सम्बन्ध नहीं देखा जाता है। दूसरा पक्ष इसलि ठीक नहीं है कि किसी एक क्षण में विद्यामान वस्तु का फि दूसरे क्षण से सम्बन्ध होने पर आप विरोध मानेंगे। अतए यह कहना कि अतीत काल से संबद्ध वस्तु का वर्तमान काल से सम्बन्ध होना विरुद्ध है।

समानाधिकरण पदों के विशिष्टैकार्थवाचित्व की वैदिक प्रयोग द्वारा सिद्धि।

मूल— यतः समानाधिकरण पदानामनेकविशेषण विशिष्टैकार्थवाचित्वम् , अतएव 'अरुणयैकहायन्या पिङ्गक्ष्या सोमं क्रीणाति ।' (यजु० ६ । १ । ६) इत्यारुण्यादि विशिष्टैकहायन्या क्रयस्साध्यतया विधीयते ।

अनु०—चूँकि लोक में समानाधिकरण पद अनेक विशेषणों से विशिष्ट एक ही अर्थ के प्रतिपादक होते हैं अतएव ही अरुणाधिकरण का यह वाक्य 'लाल रंग की' एक वर्षकी, पीली आँखोंवाली बछिया से सोम खरिदता है ।' बतलाता है कि एक वर्ष की अरुणिमा आदि से विशिष्ट बछिया से ही सोमरस खरिदा जा सकता है । (इस तरह लौकिक एवं वैदिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध होता है कि समानाधिकरण पद अनेक विशेषण विशिष्ट एक ही अर्थ के प्रतिपादक होते हैं ।)

अरुणयेत्यादि वाक्य में सामानाधिकरण्य न होने की शंका।

मू०-तदुक्तम्-'अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्

(पू० मी० सू० ३।१।१२।२) इति । तत्रैवं पूर्वपक्षी मन्यते—यद्यप्यरुणयेति पदमाकृतेरिव गुणस्यापि द्रव्य-प्रकारतैकस्वभावत्वात् द्रव्यपर्यन्तमेवारुणिमानमभिद-धाति; तथाप्येकहायन्यन्वयनियमोऽरुणिम्नो न सम्भवति एकहायन्या क्रीणाति तच्चारुणयेत्यर्थद्वयविधानासम्भ-वात् । ततश्चारुणयेतिवाक्यं भित्त्वा प्रकरणविहित-सर्वद्रव्यपर्यन्तमेवारुणिमानमविशेषेणाभिदधाति अरुण-येति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः प्रकरणविहितस्त्रीलिङ्गकद्रव्याणां प्रदर्शनार्थः । तस्मादेकहायन्यन्वयनियमो अरुणिम्नो न स्यादिति ।

अनु०— एक ही वस्तु के रहने पर द्रव्य और गुण का कर्म एक होने से दोनों की एक वाक्यता नियम होता है। यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसा मानते हैं कि आकृति का स्वभाव है कि वह जिस तरह द्रव्यमात्र का ही प्रकार होता है उसी तरह गुणका भी स्वभाव है कि वह द्रव्य का ही प्रकार होता है अतएव अरुणया यह पद अरुणिमा के ही समान द्रव्यपर्यन्त वत-लाता है फिर भी अरुणिमा से एकहायनी के अन्वय का नियम नहीं है क्योंकि उक्त वाक्य का 'एक वर्ष की बछिया से खरिदता है तथा अरुणा बछिया से खरिदता है' यह दो अर्थ नहीं हो सकते इस तरह अरुणया इस वाक्य को तोड़कर इस प्रकरण में विहि[त] समान रूप से सम्पूर्ण द्रव्य पर्यन्त ही अरुणिमा का अभिधा[न] किया जाता है। अरुणया यह स्त्रीलिङ्ग निर्देश इस प्रकर[ण]

में विहित सभी लिङ्ग वाले द्रव्यों के प्रदर्शनार्थ है। इसलिए एक हायनीका अरुणिमाके साथ अन्वय का नियम नहीं हो सकता है।

टिप्पणी– मीमांसकों का कहना है कि अरुणयेत्यादि वाक्य का पूर्वपक्ष और सिद्धान्त हमारे ही मत के अनुकूल सूत्र कार को अभिप्रेत है। अरुणयेत्यादि वाक्य का आरुण्य एकहायनी मात्र से अन्वित होता है? अथवा प्राकरिणक सम्पूर्ण द्रव्य से? किञ्च अरुणया इत्यादि पद का एकहायनी इत्यादि पद के साथ एक वाक्यता है अथवा भिन्न वाक्यता? इन दोनों बातों पर पूर्वमीमांसा के व्याख्याकारों ने विचार किया है। अब आगे विचार करना है कि क्या अरुणया इत्यादि व्यधिकरण पद हैं अथवा समानाधिकरण? किञ्च कारक विभक्त्यन्तता सामानाधिकरण्य के अनुकूल हैं कि प्रतिकूल? पूर्वपक्षी अननुकूल (विरोधी) मानता है तथा सिद्धान्त में उसे अनुकूल (अविरोधी) माना जाता है।

किञ्च कारक विभक्त्यन्तता यदि सामानाधिकरण्य का विरोधी है तो फिर सामानाधिकरण्य न होने से एक वाक्यता भी नहीं होगी फलतः उसे सर्वद्रव्य पर्यन्तान्वयी पूर्वपक्षी को मानना होगा। सिद्धान्त में कारक विभक्त्यन्तता को सामानाधिकरण्य को मानने का कारण सामानाधिकरण्य होने से वाक्यभेद न होने से उससे एक हायनीका अन्वय होगा।

हमारे तो पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्त में अरूणया पद को द्रव्य-पर्यन्तता का अनुयायी माना जाता है, जब कि दूसरों के मत में पूर्व पक्ष एवं सिद्धान्त दोनों स्वयं में अरुणया पद को गुण मात्र का ही अनुयायी माना जाता है। आकृत्याधिकरण में निर्णय किया गया है कि गुण के वाचक शुक्ल आदि पद जाति के वाचक गो आदि पद के ही समान द्रव्यपर्यन्त के वाचक होते हैं। अतएव पूर्वमीमांसा में अरुण शब्द को गुण मात्र का ही वाचक नहीं बतलाया गया है।

यदि यहाँ पर कोई यह पूछे कि आकृत्याधिकरण तथा अरुणाधिकरण में क्या अन्तर है? तो इसका उत्तर है कि आकृत्याधिकरण में एक-एक प्रातिपदिकार्थ का निरूपण किया गया है। और इस अरूणाधिकरण में तो अनेक प्रातिपदिक में रहने वाले समानविभक्त्यर्थ का निरूपण है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस अधिकरण का पूर्व पक्ष गुणवाचक पद को द्रव्य पर्यन्त की वाचकता संबन्धी नहीं हो सकता है, क्योंकि गुण के कारक रूप से निर्दिष्ट क्रयान्वय एवं द्रव्यान्वय की एक वाक्यता रूप से बतलाने में असमर्थ होने से वह प्राकरणिक सर्वद्रव्यान्वयी ही होगा। उसको द्रव्य पर्यन्त मानने पर तो उसका एक हायनी पद के साथ सामानाधिकरण्य होने से विशिष्ट कारण की एकता के कारण उस क्रयान्वय मात्र से एक वाक्य रूप से बतलाने में समर्थ होने से वाक्य भेद न हो

सकने के कारण वह एक हायनी मात्र का अन्वयी होगा। अतएव वाक्य भेद संबन्धी पूर्व पक्ष नहीं हो सकता है। इसका उत्तर देते हुए पूर्व पक्षी का कहना है कि जिस प्रकार जाति के वाचक गौः आदि पद द्रव्य के प्रकार होने पर भी द्रव्य पर्यन्त के वाचक होते हैं उसी प्रकार गुण के भी वाचक शुक्ल आदि पद द्रव्य के प्रकार होकर भी द्रव्य पर्यन्त के वाचक होते हैं, फिर भी वह अरुणया पद एक हायनी द्रव्य पर्यन्त का वाचक नहीं हो सकता है। क्योंकि अरुणया इत्यादि वाक्य के अरुणा गौ से खरिदता है तथा एक वर्ष की गौ से खरिदता है, ये दो वाक्यार्थ नहीं हो सकते हैं।

उक्त पूर्व पक्ष का सूत्रकार के द्वारा खण्डन ॥

मूल०—अत्राभिधीयते— 'अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्।' (पू० मी० ६।१।१२) 'अरुणयैकहायन्या" (यज० ६।१।६) इत्यारुण्यविशिष्टद्रव्यं कहायनी द्रव्यवाचिपदयोः सामानाधिकरण्येनार्थैकत्वे सिद्धे सत्येक हायनीद्रव्यारुण्यगुणयोररुणयेति पदेनैव विशेषण वि- शेष्यभावेन सम्बन्धितयाऽभिहितयोः क्रयाख्यैककर्मान्व- याविरोधादरुणिम्नः क्रयसाधानभूतैक हायन्यन्वय नि- यमः स्यात्।

अनु०- उपर्युक्त पूर्व पक्ष के उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं-

'अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ।'

(अर्थात् अर्थ के एक रहने पर द्रव्य एवं गुण की एक कर्मता के कारण अरुणिमा का क्रय के साधन भूत एक हायनी द्रव्य के साथ अन्वय का नियम हो सकता है ।)

श्रुति के 'अरुणयैकहायन्या' श्रुति के आरुण्यविशिष्ट द्रव्य तथा एक हायनी द्रव्य के वाचक पदों में सामानाधिकरण्य होने के कारण अर्थ की एकता सिद्ध हो जाने पर एक हायनी द्रव्य और आरुण्य गुण के 'अरुणया' इस पद से ही विशेषण विशेष्य भाव की सिद्धि हो जाने से दोनों के सम्बन्धी रूप से कहे जाने के कारण दोनों का क्रय नामक एक कर्म से संबन्ध होने में कोई विरोध नहीं है, अत एव अरुणिमा का क्रय के साधन भूत एक हायनी द्रव्य से अन्वय होने का नियम है ।

टिप्पणी- सूत्र में अर्थैकत्वे पद है- उसके विषय में शंका होती है कि न के अभेद होने पर ? तो चूंकि शब्द अर्थ का प्रति संबन्धी होता है, तथा पद विशेष के सन्निहित विषय वाक्य -स्थ होने के कारण सूत्रकार ने आरुण्य विशिष्ट द्रव्य तथा एक हायनी द्रव्य इन दोनों के वाचक पद के अर्थ की एकता का अध्याहार किया है जिससे श्री भाष्यकार ने आरुण्य विशिष्ट द्रव्यैकहायनीद्रव्यवाचिपदयोः- इत्यादि वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट

किया है। जिसका अर्थ है कि आरुण्य विशिष्ट एवं एक हायनीत्व विशिष्ट द्रव्य हैं, उसके वाचक सामानाधिकरण्य के द्वारा वे एक ही विशेष्य को बतलाते हैं। 'अरुणया' इत्यादि वाक्य में गुण एवं एकता की सिद्धि प्राति पदिक के ही द्वारा हो जाती है। विशेष्य की एकता सामानाधिकरण्य के द्वारा ज्ञात होती है। और उसकी क्रय रूप कर्म (किया) के साथ एकता अन्ययांवय के द्वारा ज्ञात होता है अत एव वाक्य का कार्य क्रय के साथ संबन्ध का वोधन ही है अत एव वाक्य में दो अर्थ के विधान के प्रसङ्ग का अभाव होने के कारण वाक्य का भेद नहीं हो सकने के कारण आरूण्य प्राकरणिक सर्व द्रव्य का अन्वयी नहीं है।) अपितु उसका केवल एक हायनी मात्र से अन्वय होता है यह सूत्रार्थ हुआ।

'वाक्यार्थद्वय विधान की शंका का खण्डन'

मूल— यद्येक हायन्याः क्रय संबन्धवदरुणिम संबन्धोऽपि वाक्यावसेयः स्यात् तदा वाक्यस्यार्थद्वयविधानं स्यात्। न चैतदस्ति, अरूणयेति पदेनैवारुणिम विशिष्ट द्रव्यमभिहितम्। एकहायनी पद सामानाधिकरण्येन तस्यैकहायनीत्वमात्रमवगम्यते; न गुण संबन्धः। विशिष्ट द्रव्यैक्यमेद हि सामानाधिकरण्यस्यार्थः। भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामाना-

धिकरण्यम् । इति हि सामानाधिकरण्यलक्षणम्
अतएव हि 'रक्तः पटो भवति' इत्यादिष्वैकार्थ्यादि
वाक्यत्वम् । पटस्य भवन क्रिया संबन्धे हि वा
व्यापारः । रागसंबन्धस्तु रक्त पदेनैवाभिहितः । 'रा
संबन्धिद्रव्यं पट' इत्येतावन्मात्रं सामानाधिकरण्यावसेय
अतएव एकेन गुणेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा तेन तेन पदे
समस्तेन व्यस्तेन वा विशिष्टमुपस्थाप्य सामानाधि
रण्येन सर्वविशेषण विशिष्टोऽर्थ एक इति ज्ञापयित्
तस्य क्रियासंबन्धाभिधानमविरुद्धम् 'देवदत्तः श्या
युवा लोहिताक्षः दण्डी तिष्ठति ।' ;शुक्ले न वास
यवनिका सम्पादयेत्' 'नीलमुत्पलमानय' 'गामान
शुक्लां शोभनाक्षीम्' 'अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्ट
पालं निर्वपेत् ।' (यजुषिकाडे अनु०) इति । एवं
'अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति' इति
एतदुक्तं भवति यथा 'काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचेत्
इत्यनेककारकविशिष्टैका क्रिया युगपत् प्रतीयते; त
समानाधिकरणपदसंघाताभिहितमेकैकं कारकं तत् त
प्रकारक प्रतिपत्तिवेलायामेवानेक विशेषण विशि

क्रियायामन्वेतीति न कश्चिद् विरोधः। 'खादिरैः शुष्कैः काष्ठैः समपरिमाणे भाण्डे पायसं शाल्योदनं समर्थः पाचकः पचेत्' इत्यादिष्विति।

अनु०— जिस तरह वाक्य के द्वारा ही एक हायनी द्रव्य का क्रय क्रिया के साथ होने वाले संबन्ध का निश्चय हो जाता है उसी तरह यदि वाक्य के द्वारा ही अरुणिम के संबन्ध का भी निश्चय हो जाय तो फिर दो वाक्यार्थ का विधान हो सकता था। किन्तु ऐसी बात तो है नहीं। अरुणया इस पद से ही अरुणिम गुण विशिष्ट द्रव्यका अभिधान हो जाता है। एकहायनी पद से सामानाधिकरण्य केवल उसके एकहायनीत्व मात्र का ज्ञान होता गुण के संबन्ध का नहीं। क्योंकि सामानाधिकरण्य के द्वारा विशिष्ट द्रव्य की एकता का ही प्रतिपादन किया जाता है क्योंकि सामानाधिकरण्य वाक्य का लक्षण है कि जहाँ पर अनेक प्रवृत्ति निमित्त वाले पद किसी एक ही विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन करते हैं वहाँ पर सामानाधिकरण्य वाक्य होता है। इसीलिए तो 'लाल कपड़ा है' इत्यादि वाक्यों द्वारा एक ही वस्तु का प्रतिपादन किये जाने के कारण उनकी एक वाक्यता होती है। पट को होने की क्रिया के साथ संबन्ध होने पर ही उसका वाक्य व्यापार होता है। इस वाक्य में पट से राग का सम्बन्ध रक्तः पद से ही कहा गया है। सामानाधिकरण्य के द्वारा तो इतना ही मात्र ज्ञात होता है कि राग

सम्बन्धी द्रव्य पट है। इस तरह एक दो अथवा अनेक गुणों से विशिष्ट ही वस्तु को विभिन्न समस्त अथवा व्यस्त पद उपस्थित करके, सामानाधिकरण्य वाक्य सभी विशेषणों से विशिष्ट वस्तु की एकता को बतलाकर यह बतलाता है कि उस (विशिष्ट वस्तु) का क्रिया से संबन्ध का अभिमान विरुद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ 'साँवला, युवक लाल आँखों वाला दण्ड एवं कुण्डलधारी देवदत्त बैठता है।' (इस वाक्य में अनेक व्यस्त पद द्वारा अनेक विशेषण विशिष्ट देवदत्त की एक ही बैठने की क्रिया से अविरोध ज्ञात होता है। कहने का आशय है कि 'रक्तः पटः' इस वाक्य के दोनों पद जड़ के वाचक हैं। और अरुणया यह पद चेतन का वाचक है। फिर भी यह विषमता जिस तरह से प्रयोजक नहीं है उसी प्रकार से प्रथमान्तत्व; कारकविभक्त्यन्तत्व, अन्तरङ्गत्व और बहिरङ्गत्व जन्य विषमता का भी प्रयोग नही। कारकविभक्त्यन्त एक पद अन्वय का उदाहरण है 'उजले वस्त्र से परदा बनाये।' यह वाक्य। कर्मकारक का उदाहरण है नील कमल लाओ। 'निलोत्पलमानय' यह वाक्य समस्त पद के सामानाधिकरण्य का उदाहरण है। 'उजली सुन्दर आखों वाली गौ लाओं' यह वाक्य कारक विभक्त्यन्त अनेक पदके अन्वय का उदाहरण है। (ये तो लौकिक वाक्यों के उदाहरण हैं जिनमें अनेक विशेषण विशिष्ट वस्तुकी एक क्रिया के साथ संबन्ध बतलाया गया है। अब नीचे कुछ वैदिक वाक्यों के भी उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें अनेक विशेषण विशिष्ट-

वस्तु की एकता तथा उसका एक क्रिया के साथ सन्वन्ध दिखाया जा रहा है ।)

'पथिकृत् अग्नि के लिए आठकपालों वाले पुरोडाश से यजन करें' इस वाक्य में जैसे विशेषण विशिष्ट अग्नि तथा अष्टकपाल पुरुष का एक ही यजन क्रिया से सम्बन्ध प्रतीत होता है उसी प्रकार अरुणाधिकरण के 'लाल पीली आखोंवाली एक वर्ष की गौ से सोम को खरिदे' इस वाक्य में भी अरुणिम विशिष्ट एक हायनी द्रव्य का क्रय क्रियासे संबन्ध ज्ञात होत है।

कहने का आशय है कि जैसे 'काष्ठों के द्वारा स्थाली में भात पकाये । ' इस वाक्य में अनेक कारकों से विशिष्ट एक ही क्रिया एक समय में प्रतीत होती है उसी तरह समानाधिकरण पद समुदाय के द्वारा कथित प्रत्येक कारकों के अनेक रूप से ज्ञात होने के समय मे ही अनेक विशेषण सेविशिष्ट होकर क्रिया में अन्वित हो जाते हैं अतएव उनमें परस्पर में कोई विरोध नहीं है । यहाँ उसी तरह से विरोध का अभाव है जिस तरह "गूलर की सूखी लकड़ी से समान परिमाण वाले भाण्ड (पात्र) में समर्थ पाचक साठी के चावल का खीर बनाये ।" इस वाक्य में कोई विरोध नहीं है ।

मू०— यत्तूपात द्रव्यक वाक्यस्थ गुण शब्दः केवल गुणाभिधायीत्यरूणयेति पदेन केवलगुणस्यैवाभिधानमिति । तन्नोपपद्यते । लोकवेदयोर्द्रव्य वाचि पदसमानाधिकर–

णस्य गुणवाचिनः क्वचिदपि केवलगुणाभिधानादर्शनात् उपात्त द्रव्यक वाक्यस्थं गुणपदं केवल गुणाभिधायीत्यप्यसङ्गतम्— पटः शुक्लः इत्यादिषूपात्तद्रव्यकेऽपि गुणविशिष्टस्यैवाभिधानात् पटस्य शुक्लः इत्यत्र शौक्ल्य विशिष्ट पटाप्रतिपत्तिरसमानविभक्ति निर्देशकृता, न पुनरुपात्तद्रव्यकत्वकृता । तत्रैव पटस्य शुक्लो भागः इत्यादिषु समानविभक्तिनिर्देशेशौक्ल्य विशिष्टद्रव्यं प्रतीयते । यत्पुनःक्रयस्यैकहायन्यवरुद्धतयाऽरुणिम्नः क्रयान्वयो न सम्भवतीति, तदपि विरोधिगुण रहित द्रव्यवाचिपदसमानाधिकरण गुणपदस्यतदाश्रयगुणाभिधानेन क्रिया पदान्वयाविरोधादसङ्गतम् । राद्धान्ते प्रोक्त न्यायेनारुणिम्नः शाब्दे द्रव्यान्वये सिद्धे द्रव्यगुणयोः क्रयसाधनत्वानुपपत्त्या, अर्थात् परस्परान्वयः सिध्यतीत्यप्यसङ्गतम् यथोक्त एवार्थः ।

अनु०— पूर्व पक्षी का यह जो कहना है कि, उपात्त द्रव्य वाले वाक्य के गुण वाचक पद केवल गुण को ही बतलाता है; अतएव अरुणया पद के द्वारा भी केवल गुण का ही अभिधान

सम्भव है, तो पूर्वपक्षी का यह कहना उचित नहीं है। क्यों कि लौकिक अथवा वैदिक किसी भी प्रकार के वाक्य में द्रव्य के वाचक पद का समानाधिकरणत्व गुण वाचक पद गुण का वाचक नहीं देखा जाता है। उपात्त द्रव्य के वाक्य का भी गुण वाचक पद केवल गुण का ही वाचक नहीं होता है। 'उजला कपड़ा' है।' इत्यादि वाक्यों में भी गुण वाचक पद गुण विशिष्ट पद को ही बतलाता है। यदि यह कहा जाय कि, कपड़े की धवलिमा' इस वाक्य में धवलिमा का वाचक शुक्ल पद गुण विशिष्ट वस्तु को तो नही बतलाता है, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि यहां पर गुण विशिष्ट वस्तु का ज्ञान न होने का कारण विभक्ति की असमानता है। उपात्त द्रव्यकत्व नहीं। क्यों कि 'पट का उजला भाग' इत्यादि वाक्यों में समान विभक्ति होने के कारण शुक्लत्वविशिष्ट द्रव्य की प्रतीति होती है। पूर्वपक्षी का यह जो कहना है कि, अरुणया इत्यादि वाक्य में क्रय क्रिया का एक हायनी द्रव्य के साथ अन्वय हो जाने के कारण अरुणिमा का क्रय के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है तो यह भी कथन उचित नहीं। क्योंकि विरोधी गुण रहित द्रव्य के वाचक पद के समान अधिकरण वाले गुण के वाचक पद अपने आश्रय के गुणों को बतलाते हैं। अत एव उनका क्रिया के वाचक पद के साथ अन्वय होने में कोई विरोध नहीं है।

सिद्धान्त में भी एक वाक्यता रहने पर वाक्य भेद न माने

जाने के कारण अरुणिमा का शाब्दिक द्रव्य से अन्वय सिद्ध हो जाने पर द्रव्य और गुण के क्रय के साधनत्व की सिद्धि न हो सकने के कारण अर्थतः परस्पर अन्वय की सिद्धि होती है, यह कथन भी उचित नहीं है, अत एव उपर्युक्त प्रकार का अर्थ ही मानना उचित है।

मूल०— तस्मात्तत्त्वमस्यादि सामानाधिकरण्ये पदद्वयाभिहित विशेषणापरित्यागेनैवैक्यप्रतिपादनं वर्णनीयम्, तत्त्वनाद्यविद्योपहितानवधिकदुःखभागिनः शुद्धा शुद्ध्युभयावस्थाच्चेतनादर्थान्तर भूतमशेषहेयप्रत्यनीकानवधिककल्याणैकतानं परमात्मानमभ्युपगच्छतो न सम्भवति, अभ्युपगच्छतोऽपि समानाधिकरणपदानां यथावस्थित-विशेषणविशिष्टैक्यप्रतिपादनपरत्वाश्रयणे त्वम्पदप्रति-पन्नसकलदोष भागित्वं परस्य प्रसज्येतेति चेत्, नैतदेवम्, त्वम्पदेनापि जीवान्तर्यामिणः परस्यैवाभिधानात् एतदुक्तं भवति— सच्छब्दाभिहितं निरस्तनिखिलदोषगन्धं सत्य सङ्कल्पत्वमिश्रानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणं समस्तकारणभूतं ब्रह्म 'बहु स्याम्' इति सङ्कल्प्य तेजोऽबन्नप्रमुखं कृत्स्नं जगत्सृष्ट्वा तस्मिन् देवादि विचित्र संस्थानसंस्थिते जगति चेतनं जीववर्गं

कर्मानुगुणेषु शरीरेष्वात्मतया प्रविश्य स्वयञ्च स्वेच्छयैव जीवान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्य एवम्भूतेषु स्वपर्य्यन्तेषु देवाद्याकारेषु संघातेषु नामरूपेव्याकरोत् एवं रूपसंघातस्यैव वस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वञ्चाकरोदित्यर्थः। अनेन जीवेनात्मना जीवेन मयेति निर्देशोजीवस्य जीवान्तरात्मतया ब्रह्मणोऽनुप्रवेशादित्यवगम्यते। "इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्चत्यच्चाभवत्" इत्यत्रेदं सर्वमिति निर्दिष्टं चेतनाचेतनवस्तुद्वयं सत्यच्छब्दाभ्यां विज्ञानाविज्ञानशब्दाभ्याञ्च विभज्य निर्दिश्य चिद्वस्तुन्यपि ब्रह्मणोऽनुप्रवेशाभिधानात्। अत एव नामरूप व्याकरणात् सर्वे वाचकाःशब्दा अचिज्जीवविशिष्ट परमात्मवाचिन इत्यवगतमिति।

अनु० (चूंकि लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकार के समानाधिकरण्य वाक्य एक विशेषण विशिष्ट किसी एक ही अर्थ का अभिधान करते हैं) अत एव तत्त्वमसि आदि समानाधिकरण्य वाक्य में तत् एवं त्वम् इन दो पदों से कहे गये विशेषणों का परित्याग किये बिना ही वस्तु की एकता का वर्णन करना चाहिये।

अनादि काल से प्रवृत्त अविद्या के द्वारा उपहित सीमातीत दुःख के भागी जीवों की शुद्धावस्था (मुक्तावस्था) तथा अशुद्धावस्था [बद्धावस्था] इन दोनों अवस्थाओं में रहने वाले जीवों से भिन्न सम्पूर्ण त्याज्य दोषों के विरोधी सीमातीत कल्याण के एक मात्र आश्रय परमात्मा का स्वरूप मानने वाले के मत में कभी भी वह विशिष्ट वस्तु की एकता रूप अर्थ संभव नहीं है। यदि एकता मान ली जाय तो भी एक अधिकरण में रहने वाले पदों के जो जैसा है वैसा ही विशेषण विशिष्ट वस्तु की एकता का प्रतिपादक मानने पर त्वम् पद से ज्ञात होने वाले सभी दोषों के भागी परमात्मा भी हो जायेंगे। यह यदि पूर्व पक्षी कहें तो; यह कहना उचित नहीं होगा। 'त्वम्' पद के द्वारा भी जीवों के अन्तर्यामी परमात्मा का ही अभिधान होता है। कहने का अभिप्राय है कि- कारण प्रकरण में सत् शब्द से कहे गये सभी दोषों की गन्ध से भी दूर सत्य संकल्पत्व मिश्रित सीमातीत असंख्येय कल्याण गुण गणों से युक्त, सम्पूर्ण जगत् के एक मात्र कारण परं ब्रह्म 'मैं अनेक हो जाऊं' इस तरह से सत्य संकल्प करके पृथिवी, जल और और तेजः प्रधान सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करके उसमें देवता आदि अद्भुत अवयवों वाले जगत् में चेतन जीव वर्ग को उनके कर्मों के अनुसार शरीरों में आत्मा रूप से प्रवेश करके द्वार द्वारक रूप से व्यवस्थित परमात्मा पर्यन्त देव आदि आकार समुदायों में नाम रूप का विभाग किया। अर्थात् इस तरह जड़ चेतन एवं ईश्वरात्मक समुदाय को ही वस्तु एवं शब्द

वाच्य बना दिया परं ब्रह्म ने। 'अनेन जीवेनात्मना' इस श्रुति में जीव के साथ मैं यह निर्देश जीव को ब्रह्मात्मक ही बतलाता है। जीव को ब्रह्मात्मक इसलिए माना जाता है कि ब्रह्म जीव में अन्तरात्मारूप से प्रविष्ट हैं, यह श्रुतियों से ही पता चलता है। 'परमात्मा ने इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की। यह जो कुछ है उसकी सृष्टि करके सबमें ही परमात्मा प्रवेश कर गया उसमें प्रवेश करके वह जड़ चेतन रूप हो गया।' इस तैत्तिरीय श्रुति में 'इदम् सर्वम्' इस वाक्यांश से निर्दिष्ट जड एवं चेतन इन दो वस्तुओं को सत् एवं त्यत् शब्दों के द्वारा तथा विज्ञान एवं अविज्ञान शब्दों के द्वारा अलग-अलग निर्देश करके चेतन वस्तु में भी ब्रह्म के अनुप्रवेश का अभिधान श्रुति ने किया है। उदाहृत वाक्यों के द्वारा परमात्मपर्यन्त नाम एवं रूप के विभाग का प्रतिपादन किये जाने से इस नाम रूप विभाग के द्वारा पता चलता है कि सभी वाचक शब्द प्रकृति एवं जीव विशिष्ट परमात्मा के ही वाचक हैं।

सभी शब्दों का परमात्मपर्यन्तत्व में प्रमाण

मू०— किञ्च-'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इति चेतन मिश्रंप्रपञ्चम् 'इदं सर्वमिति' निर्दिश्य 'तस्यैष आत्मा' (तै० आ० ५) इति प्रतिपादितम् एवञ्च सर्वं चेतनाचेतनं प्रति ब्रह्मण आत्मत्वेन सर्वं सचेतनं जगत् तस्य शरीरं भवति। तथा च

श्रुत्यन्तराणि—'अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा' (यजु० आ० ६।११) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद। यस्य पृथिवीशरीरम्। यः पृथिवीमन्तरो यमयति। स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ. ५।७।३) इति प्रारभ्य एव आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। य आत्मानमन्तरो यमयति। स त आत्मान्तर्याम्यमृतः (बृ. ५।७।२२) इत्यादि 'यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यस्य पृथिवी शरीरम्। योऽपामन्तरे सञ्चरन् यस्यापः शरीरम्।' इत्यारभ्य—'योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरम्। यमक्षरं न वेद। एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः।' (सु.उ.) इत्यादीनि सचेतनं जगत् तस्य शरीरत्वेन निर्दिश्य तस्यात्मत्वेन परमात्मानमुपदिशन्ति; अतश्चेतनवाचिनोऽपिशब्दाः चेतनस्याप्यात्मभूतं चेतन शरीरकं परमात्मानमेवाभिदधति। यथा अचेतन देवादि संस्थान पिण्डवाचि नश्शब्दास्तच्छरीरक जीवात्मन एव वाचकाः 'चत्वारः पञ्चदश राजाद्देवत्वं गच्छन्ति" इत्यादिषु

देवा भवन्तीत्यर्थः शरीरस्य शरीरिणं प्रति प्रकारत्वात् प्रकार वाचिनां च शब्दानां प्रकारिण्येव पर्यवसानात् शरीरवाचिनां शब्दानां शरीरिपर्यवसानं न्याय्यम् प्रकारो हि नाम इदमित्थमिति प्रतीयमाने वस्तुनि इत्थ मिति प्रतीयमानोंऽशः। तस्य तद्वस्त्वपेक्षत्वेन तत्प्रतीते स्तदपेक्षत्वात् तस्मिन्नेव पर्य्यवसानं युक्तमिति तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दस्तस्मिन्नेव पर्य्यवस्यति। अतएव 'गौरश्वो मनुष्यः' इत्यादिप्रकार भूताकृतिवाचिनश्शब्दाः प्रकारिणि पिण्डे पर्य्यवस्यन्तः पिण्डस्यापि चेतनशरीरत्वेन तत्प्रकारत्वात् पिण्डशरीरकचेतनस्यापि परमात्म प्रकारत्वाच्च परमात्मन्येव पर्य्यवस्यन्तीति सर्वशब्दानां परमात्मैव वाच्य इति परमात्मवाचिशब्देन सामानाधिकरण्यं मुख्यमेव।

अनु०—प्रस्तुत अनुच्छेद में यह बतलाया जा रहा है कि सभी शब्द परमात्म पर्यन्त के वाचक होते हैं) और छान्दोग्योपनिषद् के (ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्) इस श्रुति में 'इदं सर्वम्' पद के द्वारा चेतन (जीव) मिश्रित जगत् का निर्देश करके बतलाया गया है कि उस सम्पूर्ण जगत् की आत्मा परमात्मा ही है। इस तरह सम्पूर्ण जड चेतन जगत् की आत्मा परमात्मा

के होने के कारण जीव सहित सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरी
सिद्ध होता हैं इसी अर्थ की दूसरी श्रुतियां भी बतलाती है
यजुः आरण्यक की 'अन्तः प्रविष्टः' इत्यादि श्रुति बतलाती
कि परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के भीतर अन्तर्यामी रूप से प्रवे
करके उसका नियमन किया करता है, अतएव वह सबों की आ
है। बृहदारण्यकोपनिषद् में "जो पृथिवी के भीतर रहता हु
पृथिवी की अपेक्षा अन्तरंग है, जिसे पृथिवी नहीं जानती; पृथि
जिसका शरीर है, और जो पृथ्वी के भीतर रहकर उस
नियमन किया करता है वही अन्तर्यामी और अमृत परमात्
तुम्हारी भी आत्मा है' इस श्रुति से प्रारम्भ करके 'जो आत
के भीतर रहता हुआ आत्मा की अपेक्षा अन्तरंग है, जिसे आत
नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के भीत
रहकर उसका नियमन किया करता है वही अन्तर्यामी अमृ
परमात्मा तुम्हारी भी आत्मा है।"इस श्रुति पर्यन्त सम्पूर्ण जग
की आत्मा परमात्मा को बतलाया गया है। सुबालोपनिषद् मे
भी जो पृथ्वी के भीतर संचरण करता हुआ, पृथ्वी जिसका
शरीर है, जो जल के भीतर रहता हुआ जल जिसका शरीर है
इस श्रुति से प्रारम्भ करके जो अक्षर तत्व (जीवात्मा) के
भीतर संचरण करता हुआ अक्षर तत्व जिसका शरीर है जि
अक्षर तत्व नहीं जानता वही सभी पापों से रहित दिव्य गुण
सम्पन्न केवल नारायण देव ही सभी भूतों की अन्तरात्मा है
इत्यादि सभी श्रुतियाँ जड चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् को पर

मात्मा का शरीर बतलाकर सम्पूर्ण जगत् की आत्मा रूप से परमात्मा का उपदेश करती है। चूँकि जड़ चेतनात्मक जगत् परमात्मा का शरीर है। अतएव जीवों के वाचक शब्द भी जीवों की आत्माभूत परमात्मा को बतलाते हैं। जिस परमात्मा के शरीर जीव भी हैं जिसतरह जड़ देव मानव आदि अवयवों और शरीरों के वाचक शब्द उन देव आदि शरीर वाले जीवात्मा के ही वाचक होते हैं। जैसे पञ्च दशरात्र नामक चार प्रकार के कर्मों का विधान करने वाले चतुरः पञ्चदश रात्रान् इस वाक्य के अन्त में फलश्रुति बतलाते हुए कहा गया है कि; इन कर्मों को करने वाले देवत्व को प्राप्त करते हैं। इस वैदिक वाक्य का आशय है कि वे जीव देव हो जाते हैं; अतएव प्रकार के वाचक शब्दों का प्रकारी (विशेष्य) में ही पर्यवसान होना है। अतएव शरीर के वाचक शब्दों के तात्पर्य की पूर्ति शरीर (आत्मा) पर्यन्त ही मानना उचित है।

किसी भी वस्तु की प्रतीति दो प्रकार से होती है। इदन्त्व और इत्थन्त्व (यह और इस प्रकार) रूप से इन प्रतीत होने वाले वस्तुओं में प्रतीति (ज्ञान) का जो इत्थन् अंश है उसे ही प्रकार कहा जाता है। चूंकि प्रकार की स्थिति प्रकारी सापेक्ष होती है। अतएव प्रकार की भी ठीक ठीक प्रतीति प्रकारी सापेक्ष होने के कारण प्रकार की प्रतीति का प्रकारी में ही पर्यवसान मानना उचित है। इसतरह प्रकार वाची शब्द का प्रकारी

में पर्यवसन होता है। इसतरह यह सिद्ध हुआ कि गौ अश्व मनुष्य इत्यादि प्रकार स्वरूप आकार को बतलाने वाले शब्दों का अपने विशेष्यभूत शरीर में पर्यवसान होता है और चूंकि शरीर भी आत्मा का विशेषण होता है। और शरीर विशिष्ट आत्मा अंतर्यामीपरमात्मा का विशेषण(शरीर)होता है, अतः उनसभी गौ अश्वादि शब्दों का परमात्मा में ही पर्यवसान होता है अतः सभी शब्दों के वाच्य भूतार्थ परमात्मा ही हैं। और इन शब्दों का परमात्मा के वाचक शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य मुख्य ही है गौड़ नहीं।

मूल— ननु खण्डो गौः खण्डः शुक्लः इति जातिगुणवाचिनामेव पदानां द्रव्यवाचिपदैः सह सामानाधिकरण्यं दृष्टम् द्रव्याणांतु द्रव्यान्तर प्रकारत्वे मत्वर्थीय प्रत्ययो दृष्टः यथा 'दण्डी कुण्डली इति। नैवम् जातिर्वा गुणो वा द्रव्यं वा नैतेष्वेकमेव सामानाधिकरण्ये प्रयोजकम् अन्योऽन्यस्मिन् व्यभिचारात् यस्य पदार्थस्य कस्यचित् प्रकारतयैव सद्भावः तस्य तदपृथक्सिद्धिस्थिति प्रतीतिभिस्तद्वाचिनां शब्दानां स्वाभिधेयविशिष्ट द्रव्यवाचित्वाद्धर्मान्तरविशिष्टतद् द्रव्य वाचिना शब्देन सामानाधिकरण्यं युक्तमेव यथा

पुनः पृथक् सिद्धस्य स्वनिष्ठस्यैव द्रव्यस्य कदाचित् क्वचिद्द्रव्यान्तरप्रकारत्वमिष्यते तत्र मत्वर्थीयप्रत्यय इति निरवद्यम् ।

अनु०- (अब प्रश्न यह उठता है कि विशेषण के वाचक शब्दों का पर्यवसान विशेष्य पर्यन्त भले ही हो किन्तु विशेषण वाचक शब्दों का विशेष्य वाचक शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य नहीं देखा जाता है । तो इसका उत्तर यह है कि जिस तरह नैल्यगुण के अन्तर्गत दूसरी जाति के वाचक नील शब्द नैल्य गुण के द्वारा नैल्य विशिष्ट में ही पर्यवसित होता है जैसे नीलं उत्पलं इत्यादि वाक्य में वैसे ही, गो आदि शब्द गोत्वादि जातिमवाचक गोत्वादि विशिष्ट पिण्ड के द्वारा उस शरीर से विशिष्ट आत्मा में खण्डादि शब्दों द्वारा पर्यवसित होते हैं और उनका सामानाधिकरण्य भी देखा जाता है) यहाँ पर यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि 'खण्ड गौ है; यह उजली खण्ड गौ है' इत्यादि जाति और गुण के वाचक दो पदों का द्रव्य के वाचक पदों के साथ सामानाधिकरण्य देखा जाता है जहाँ पर एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का विशेषण बने वहाँ पर तो मत्वर्थीय प्रत्यय का होना आवश्यक होता है जैसे दण्डी कुण्डली इत्यादि पदों में मत्वर्थीय इन् प्रत्यय देखा जाता है । तो ऐसी शंका ठीक नहीं है । जाति अथवा गुण अथवा द्रव्य इन में से कोई एक ही सामानाधिकरण्य का प्रयोजक (कारण) बने ऐसी बात नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर परस्पर में व्यभिचार होगा (साध्य सामानाधिक-

रण्य केवल जाति वाचकयागुण वाचक ही हो ऐसी कोई बात नहीं है। क्यों कि जाति अथवा गुण मत्वर्थीय प्रत्यय निर्पेक्ष सामानाधिकरण्य के प्रयोजक होते हैं, यह देखा जाता है। और पूर्व क्षो भी ऐसा स्वीकार करते हैं।] जिस पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ के विशेषण रूप से ही सत्ता रहती है उसका उसके साथ अपृथक् सिद्ध स्थिति और प्रतीतियों के द्वारा उसके वाचक शब्द अपने वाच्य विशिष्ट द्रव्य के ही वाचक होते हैं। अत एव दूसरे धर्म से विशिष्ट (युक्त) उस द्रव्य के वाचक शब्द के द्वारा सामानाधिकरण्य का होना उचित ही है और जहां पर पृथक सिद्ध अपने में रहने वाले द्रव्य का कहीं पर और कभी दूसरे द्रव्य का विशेषणत्व अभिप्रेत हो वहां पर तो मत्वर्थीय प्रत्यय होने में कोई दोष नहीं।

टिप्पणी– विशेषण दो प्रकार के होते हैं पृथक सिद्ध एवं अपृथक सिद्ध अपृथक सिद्ध विशेषण उसे कहते हैं जो अपने विशेष्य से अलग रह ही न सके जैसे आत्मा से अलग होकर शरीर नहीं रह सकता, अत एव शरीर आत्मा का अपृथक सिद्ध विशेषण है। अत एव उसे अपृथक सिद्ध विशेषणों का अपने विशेष्य के साथ सामानाधिकरण्य होने में मत्वर्थीय प्रत्यय की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

पृथक सिद्ध विशेषण वे हैं जो अपने विशेष्य से अलग रहकर भी बने रहते हैं जैसे दण्डी पुरुष का दण्ड कभी उसके हाथ में रहता है कभी उससे अलग भी रहता है अत एव दण्डी पुरुष

का दण्ड उसका पृथक सिद्ध विशेषण है, पृथक सिद्ध विशेषणों का विशेष्य के साथ सामान्याधिकरण्य बतलाने के लिए मत्वर्थीय प्रत्यय का प्रयोग होना आवश्यक होता है, जैसे दण्डी कुण्डली आदि।

सू०—तदेवं परमात्मनः शरीरतया तत्प्रकारत्वादचिद्विशिष्टजीवस्यापि जीवनिर्देशविशेषरूपा अहं त्वमित्यादिशब्दा परमात्मानमेवाचक्षत इति 'तत्त्वमसि' इति सामानाधिकरण्येनोपसंहृतम्। एवञ्च सति परमात्मानं जीवस्य शरीरतया अन्वयात् जीवगता धर्माः परमात्मानं न स्पृशन्ति यथा स्वशरीरगता बालत्वयुवत्वादयो धर्माः जीवं न स्पृशन्ति। अतः 'तत्त्वमसि' इति सामानाधिकरण्ये तत्पदं जगत्कारणभूतं सत्यसंकल्पं सर्वकल्याणगुणाकरं निरस्त समस्तहेयगन्धं परमात्मानमाचष्टे। त्वमिति च सशरीरजीवशरीरकमाचष्ट इति सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम्, प्रकरणाविरोधः सर्वश्रुत्यविरोधो ब्रह्मणि निरवद्ये कल्याणैकताने अविद्यादिदोषगन्धाभावश्च। अतो जीव समानाधिकरणमपि विशेषणभूताज्जीवादन्यत्वमेवापादयतीति विज्ञानमयाज्जीवादन्य एवानन्दमयः परमात्मा।

अनुवाद– उपर्युक्त प्रकार से परमात्मा का शरीर स्वरूप होने के कारण परमात्मा का प्रकार (विशेषण) होने से जड़ शरीर विशिष्ट जीव के निर्देश विशेष रूप 'अहम्' 'त्वम्' आदि शब्द भी जीव शरीरक परमात्मा को ही बतलाते हैं, 'तत्त्वमसि' इस सामानाधिकरण्य के द्वारा उपसंहृत हुआ है।

इस तरह से परमात्मा के प्रति जीव का शरीर रूप से संबन्ध होने के कारण जीव के धर्म परमात्मा को उसी प्रकार से नहीं स्पर्श कर सकते हैं जिस तरह अपने शरीर के बालत्व युवत्व आदि धर्म जीव को नहीं स्पर्श करते हैं। अत एव तत्त्वमसि इस सामानाधिकरण्य वाक्य का तत्पद जगत् के एकमात्र कारण, सत्यसंकल्प वाले कल्याण गुणों के एक मात्र आश्रय सभी त्याज्य दोषों की गन्ध से भी दूर रहने वाले परमात्मा को बतलाता है। और त्वम् पद भी शरीर एवं जीव से विशिष्ट उसी परमात्मा को बतलाता है। इस तरह सामानाधिकरण्य का मुख्य वृत्तत्व सिद्ध होता है। ऐसा मानने में न तो प्रकरण का विरोध होता है और न तो किसी श्रुति का ही। साथ ही दोष रहित कल्याणों के एक मात्र आश्रय ब्रह्म में अविद्या आदि दोषों के गन्ध का अभाव भी बना रहता है अत एव परमात्मा का जीव के साथ सामानाधिकरण्य भी उसे परमात्मा के शरीर रूप से विशेषण भूत जीव से भिन्न ही सिद्ध करता है। अत एव विज्ञान-

मय विज्ञान प्रचुर जीव से (आनन्दमय परमात्मा भिन्न ही सिद्ध होता है।

'जगत् का परमात्म शरीरत्व'

मू० यदुक्तम् 'तस्यैव एव शरीर आत्मा' इत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणात् जीवादन्यत्वं न संभवतीति । तदयुक्तम् । अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्र 'तस्यैष एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य' इति परमात्मन एव शारीरात्मत्वाभिधानात् । कथम् ? 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, (तै० आ० १) इत्याकाशादि सृज्यवर्गस्य परमकारणत्वेन प्रज्ञात जीवव्यतिरेकस्य परस्य ब्रह्मणः आत्मत्वेन व्यपदेशात् तद् व्यतिरिक्ताकाशादीनामन्नमय पर्यन्तानां तच्छरीरत्वमवगम्यते । 'यस्य पृथिवी शरीरम् ...... यस्यापः शरीरम्-यस्य तेजः शरीरम् ....यस्य वायुः शरीरम् .... यस्याकाशः शरीरम्.........यस्याक्षरंशरीरम् .... यस्यमृत्युः शरीरम् एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' इति सुबाल श्रुत्या सर्वतत्त्वानां परमात्मशरीरत्वं स्पष्टमभिधीयते । अतः 'तस्माद्वा

एतस्मादात्मनः' इत्यत्रैवान्नमयस्य परमात्मैव शारीर आत्मेत्यवगतः। प्राणमयं प्रकृत्याह–तस्यैष एव शारीर आत्मा श्रुत्यन्तरसिद्धः परमकारणभूतः परमात्मा, स एष तस्य प्राणमयस्यापि शारीर आत्मेत्यर्थः। एवं मनोमयाविज्ञानमययोर्द्रष्टव्यम्। आनन्दमयेतु 'एष एव' इति निर्देशः तस्यानन्यात्मत्वं दर्शयितुम्। तत् कथम्। विज्ञानमयस्यापि पूर्वोक्तया नीत्या परमात्मैव शारीर आत्मेत्यवगतः। एवं सति विज्ञानमयस्य यः शारीर आत्मा स एवानन्दमयस्यापि शारीर आत्मेत्युक्ते आनन्दमयस्याभ्यासावगतपरमात्म भावस्य परमात्मनः स्वयमेवात्मेत्यवगम्यते। एवञ्च स्वव्यतिरिक्त चेतनाचेतनवस्तुजातं स्वशरीरमिति स एव निरुपाधिकः शारीर आत्मा। अत एवेदं परं ब्रह्माधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं शारीरकमित्यभियुक्तै रभिधीयते। अतोविज्ञानमयाज्जीवादन्य एव परमात्मा आनन्दमयः ॥१३॥

अनुवाद— पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि– 'उसका यह शरीर धारी ही आत्मा है' इस श्रुति में आनन्दमय का शरीर-

धारित्व सुने जाने के कारण आनन्द मय जीव से भिन्न नहीं हो सकता है। तो पूर्व पक्षी का यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकरण में (आनन्दमीमांसा प्रकरण में) सब जगह 'उसका यह ही प्रसिद्ध आत्मा है जो पूर्व प्रतिपादित का' इस तरह से परमात्मा को ही सभी शरीरों की आत्मा बतलाया गया है। यदि आप यह पूछें कि इस प्रकरण में सब जगह परमात्मा को ही शरीरात्मा बतलाया गया है यह आप कैसे जानते हैं? तो 'उस परमात्मा रूपी परमकारण से इस आकाश की उत्पत्ति हुई। इत्यादि सभी सृज्यवर्ग का परम कारण होने से सभी को आत्म जीव से भिन्न परं ब्रह्म की आत्मा रूप से व्यपदेश होने के कारण उससे भिन्न आकाश आदि से लेकर अन्नमय पर्यन्त की आत्मा रूप से परमात्मा ज्ञात होता है। (क्योंकि आकाशादि की सृष्टि के पश्चात् ही जीव के इन्द्रिय ग्राम एवं शरीर की सृष्टि हुई अत एव उससे पहले जीव सृष्टि करने में कथमपि समर्थ नहीं हो सकता है। इस तरह सिद्ध होता है कि आकाश आदि की सृष्टि करने वाला जीव से भिन्न परमात्मा ही है। 'यही सभी पापों से रहित दिव्यगुण सम्पन्न नारायण देव ही सभी भूतों की अन्तरात्मा हैं जिनका पृथिवी शरीर है, जिनका जल शरीर है, जिनका तेज शरीर है, जिनका वायु शरीर है, जिनका आकाश शरीर है, जिनका अक्षरतत्त्व शरीर है तथा जिनका मृत्यु शरीर है।' यह सुबाल श्रुति स्पष्ट रूप से सभी तत्त्वों को परमात्मा का शरीर बतलाती है। इस लिए (यद्यपि श्रुति ने कण्ठरव से नहीं

कहा है फिर भी) निश्चय ही उस प्रसिद्ध आत्मा से ' यहाँ हो अन्नमय की आत्मा परमात्मा है यह ज्ञात होता है। प्राण मय के विषय में श्रुति कहती है–'उसका यही शरीरवान् आत्मा है, जो पूर्वोक्त (अन्नमय) का।' अर्थात् पूर्वोक्त अन्नमयको श्रुत्यन्तर से सिद्ध परम कारण भूत जो आत्मा है वह ही उस प्राण मय की भी आत्मा है। उसी तरह से मनोमय एवं विज्ञान मय (जीव) की भी आत्मा परमात्मा को ही जानना चाहिये। आनन्द मय के विषय में जो श्रुति ने 'एष एव' यह निर्देश दिया है' वह आनन्दमय को ही आत्मा बतलाने के लिए। यदि आप पूछें कि आप यह कैसे जानते हैं ? तो इसका उत्तर है कि-पूर्वोक्त नीति के द्वारा ज्ञात होता है कि विज्ञानमय आत्मा ही है। और ऐसा होने पर विज्ञान मय का जो शरीरवान् आत्मा है वही आनन्दमय की भी शरीरवान् आत्मा है। यह कहने पर आनन्द मय के अभ्यास के द्वारा ज्ञात होने वाले परमात्म भाव वाले परमात्मा का स्वयं ही आत्मत्व ज्ञात होता है। इस तरह परमात्मा को छोड़कर सभी जड़ चेतन वस्तु समूह परमात्मा का शरीर है और परमात्मा ही सबो की उपाधि रहित आत्मा है। चूंकि सम्पूर्ण जगत् की आत्मा परं ब्रह्म ही है अतएव परंब्रह्म को ही विषय बनाकर प्रवृत्त होने वाले इस वेदान्त शास्त्र को श्री बोधायन आदि अभियुक्तों ने शारीरक शास्त्र शब्द से अभिहित किया है। अतएव विज्ञानमय जीव से भिन्न ही आनन्द मय परमात्मा है ॥१३॥

'विकार सूत्र की अवतरणिका'

सू० आह–नायमानन्दमयो जीवादन्यः विकारशब्दस्य मयट् प्रत्यय श्रवणात् । 'मयड्वैतयोः ... ...' (अष्टाध्यायी ४।३।१४३) इति प्रकृत्य 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' (अष्टा० ४।३।१४४) इति विकारार्थे मयट् स्मर्यते । वृद्धश्चायमानन्दशब्दः । ननु प्राचुर्येऽपि मयडस्ति 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (अष्टा० ५।४।२१) इति स्मृतेः । यथा–'अन्नमयो यज्ञः' इति, स एवायं भविष्यति । नैवम् , अन्नमय इत्युपक्रमे विकारार्थत्वं दृष्टम् , अत औचित्यादस्यापि विकारार्थत्वमेव युक्तम् । किञ्च प्राचुर्यार्थत्वेऽपि जीवादन्यत्वं न सिध्यति । तथा हि आनन्द प्रचुर इत्युक्ते दुःखमिश्रत्वमवर्जनीयम् । आनन्दस्य हि प्राचूर्यं दुःखस्याल्पत्वमवगमयति । दुःखमिश्रत्वमेव जीवत्वम् । अत औचित्यप्राप्त विकारार्थत्वमेव युक्तम् ।

किञ्च लोके– मृण्मयं हिरण्मयं वाङ्मय मित्यादिषु; वेदेच-पर्णमयी जुहूः (याजुषि ३।५।४)

'शमीमय्यः स्रुचः' दर्भमयीरशना इत्यादिषु मयटो विकारार्थे प्रयोग बाहुल्यात् स एव प्रथमतरं धियमारोहति जीवस्य चानन्दविकारत्वमस्त्येव । तस्य स्वत आनन्द रूपस्य सतस्संसारित्वावस्थातद्विकार एवेति, अतो विकारवाचिनो मयट् प्रत्ययस्या श्रवणादनन्दमयो जीवादनतिरिक्त, इति । तदेतदनुभाष्य परिहरति ।

'विकार शब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात् ॥१४॥

अनु०– उपर्युक्त सिद्धान्ती के कथन का खण्डन करते हुए पूर्व पक्षी का कहना है कि— यह आनन्दमय जीव से भिन्न नहीं हो सकता है क्योंकि विकार के अर्थ में ही मयट् प्रत्यय सुना जाता है । क्योंकि पाणिनि के 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्यच्छादनयोः' इस सूत्र के विकार और अवयव के अर्थ प्रकृति मात्र से मयट् प्रत्यय विकल्प से होता । कहने का आशय है कि यह अधिकार सूत्र है । उपर्युक्त दोनों अर्थों में भी 'नित्यं वृद्ध शरादिभ्यः' सूत्र से शरादि गण पठित वृद्ध संज्ञक शब्दों से मयट् प्रत्यय ही होता है अण् प्रत्यय नहीं । वृद्धिर्यस्याचामादिस्तत् वृद्धम् ।' इस सूत्र से आनन्द शब्द की वृद्ध संज्ञा होती है । अत एव आनन्द शब्द से विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय होकर आनन्दमय शब्द बनता है ।

यदि यहाँ पर कोई यह कहे कि प्राचुर्य अर्थ में भी मयट् प्रत्यय 'तत्प्रकृत वचने मयट्' इस सूत्र से देखा जाता है। जैसे 'अन्नमयो यज्ञः' का अर्थ अन्नप्रचुर यज्ञ है। अत एव यहाँ प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय होगा। तो यह कथन उचित नहीं होगा। क्योंकि अन्नमय के विषय में पहले ही बतलाया जा चुका है कि अन्नमय में विकार अर्थ में ही मयट् प्रत्यय हुआ है। अत एव औचित्य के कारण इसका भी विकारार्थकत्व ही स्वीकार करना उचित नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि आनन्द-मय में प्राचुर्य अर्थ में ही मयट् प्रत्यय मान लिया जाय तो भी वह आनन्नमय से भिन्न नहीं सिद्ध हो सकता है। वह इस तरह से कि— आनन्द प्रचुर कहने पर भी उसे दुख मिश्रित अवश्य मानना होगा। क्योंकि आनन्द की प्रचुरता दुःख की अल्पता को बतलाता है। और दुःख मिश्रित होना ही जीवत्व कहलाता है। अत एव औचित्य के अनुसार यहाँ मयट् प्रत्यय विकारार्थक ही मानना उचित है।

किञ्च— लौकिक – मृण्मय, (मिट्टी के बने पात्र) हिरण्मय (स्वर्ण के बने पात्र या आभूषण) दारुमय (काष्ठ-निर्मित) इत्यादि तथा वैदिक—'पत्र निर्मित जुहू'शम निर्मित स्रुच तथा कुश निर्मित मेखला' आदि बहुत प्रयोगों में विकार अर्थ में ही मयट् प्रत्यय देखा जाता है। अत एव सर्व प्रथम विकारार्थक ही मयट् बुद्धिस्थ होता है। जीव भी आनन्द का विकार है ही) क्योंकि स्वयं आनन्द स्वरूप उस सत् शब्द वाच्य ब्रह्म का

संसारी बन जाना ही उसका विकार है। अतएव विकार के वाचक मयट् प्रत्यय के सुने जाने के कारण आनन्दमय जीव ही है। पूर्व पक्षी के इसी शंका को हृदय में रखकर सूत्रकार उसका परिहार करते हुए कहते हैं।

विकार शब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्य्यात् ॥१४॥

(अर्थात् मयट् प्रत्यय के विकार का वाचक होने से आनन्दमय जीव से भिन्न नहीं हो सकता है, यह पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है क्योंकि आनन्दमय में मयट् प्रत्यय प्राचुर्य के ही अर्थ में सुना जाता है। यही इस सूत्र का अर्थ हुआ।

मूल-नैतद्युक्तम्-कुतः ? प्राचुर्य्यात् परस्मिन् ब्रह्मण्यानन्दप्राचुर्य्यात् प्राचुर्य्यार्थे च मयट् सम्भवात्। एतदुक्तंभवति शतगुणितोत्तरक्रमेणाभ्यस्यमानस्यानन्दस्यजीवाश्रयत्वासम्भवाद्ब्रह्माश्रोऽयमानन्द इति निश्चिते सति तस्मिन् ब्रह्मणि विकारासम्भवात् प्राचुर्य्येऽपि मयड्विधिसम्भवाच्चानन्दमयः परं ब्रह्मेति। औचित्यात् प्रयोगप्रौढ्या च मयटो विकारार्थत्वमर्थं विरोधान्न सम्भवति। किञ्च औचित्यं प्राणमय एव परित्यक्तम् तत्र विकारार्थत्वासम्भवात्: अतस्तत्र पञ्चवृत्तेर्वायोः प्राणवृत्तिमत्तामात्रेण प्राणमयत्वम् प्राणापानादिषु

पञ्चसु वृत्तिषु प्राणवृत्तः प्राचुर्यमिति । न च प्राचुर्ये मयट् प्रत्ययस्य प्रौढिर्नास्ति 'अन्नमयो यज्ञः' शकटमयो यात्रा' इत्यादिषु दर्शनात् ॥

अनु०— विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय को मानना ठीक नहीं है क्योंकि प्राचुर्यात्=परम ब्रह्म में आनन्द का प्राचुर्य पाया जाता है तथा प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय का होना सम्भव है। कहने का आशय है कि जिस आनन्द का उत्तरोत्तर सौ सौगुना अधिक्य बतलाया गया है उस आनन्द सीमाभूमि का आश्रय जीव नहीं हो सकता, अतएव उस आनन्द का आश्रय ब्रह्म के निश्चित हो जाने पर उस में विकार न हो सकने के कारण तथा प्राचुर्य अर्थ में भी मयट् प्रत्यय होने के कारण आनन्दमय शब्द से ब्रह्म ही कहा गया है।

यद्यपि औचित्य तथा प्रयोग बाहुल्य के कारण मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में ही सुप्रसिद्ध होता है। फिर भी उसे यहाँ पर विषय से विरोध होने के कारण विकार अर्थ में नहीं स्वीकार किया जाता। दूसरी बात है कि औचित्य का परित्याग तो प्राण मय शब्द में ही हो चुका क्योंकि प्राण मय शब्द में विकारार्थक मयट् हो ही नहीं सकता अतएव यहाँ पर या तो प्राणापानादि ५ वृत्तियों वाले वायु के प्राणवृत्ति से युक्त होने के ही कारण प्राणमयत्व मानना होगा अथवा प्राण अपानादि (व्यान-

समान उदान) पाँचबृत्ति में प्राण वृत्ति के प्राचुर्य के कारण प्राणमयत्व मानना होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि प्राचुर्य्य अर्थ में मयट् प्रत्यय के प्रयोग की प्रौढि नहीं है क्योंकि अन्नमय यज्ञ, वाहन मयी यात्रा आदि प्रयोगों में मयट् प्रत्यय प्राचुर्य्य अर्थ में ही पाया जाता है।

मू०—यदुक्तमानन्दप्राचुर्य्यमल्पदुःखसद्भावमव गमयतीति, तदसत्; तत्प्रचुरत्वं हि तत्प्रभूतत्वम्, तच्चेतरस्य सतां नावगमयति, अपितु तस्याल्पत्वं निवर्तयति। इतरसद्भावासद्भावौ तु प्रमाणान्तरावसेयौ। इहच प्रमाणान्तरेण तदभावोऽवगम्यते। 'अपहतपाप्मा इत्यादिना। तत्रैतावदेव वक्तव्यम्, ब्रह्मानन्दस्य प्रभूतत्वमन्यानन्दस्याल्पत्वमपेक्षत इति—उच्यते च तत् 'स एको मानुष आनन्द इत्यादिना जीवानन्दापेक्षया ब्रह्मानन्दो निरतिशयदशापन्नः प्रभूत इति॥

यच्चोक्तम्— जीवस्यानन्दविकारत्व सम्भवतीति। तदपि नोपपद्यते; जीवस्य ज्ञानानन्दस्वरुपस्य केनचि—दाकारेण मृद इव घटाद्याकारेण परिणामस्सकल श्रुति स्मृतिन्यायादविरुद्धः। संसार दशायान्तु कर्मणा ज्ञानानन्दौ

सङ्कुचिता वित्युपपादयिष्यते, अतश्चानन्दमयोजीवादन्यः परं ब्रह्म ॥

अर्थ—पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि आनन्द की प्रचुरता दुःख की अल्पता को बतलाता है। तो उसका यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि आनन्द की प्रचुरता का अर्थ आनन्द की सर्वोत्कृष्टता मात्र है उसके द्वारा उससे भिन्न वस्तु की सत्ता का पता उससे नहीं चलता बल्कि आनन्द की अल्पता का अभाव ही आनन्द की प्रचुरता है। उससे भिन्न वस्तु के सद्भाव और असद्भाव का ज्ञान तो किसी दूसरे प्रमाण से ही सम्भव है। 'ब्रह्म में कोई दोष नहीं है' इस छान्दोग्यप्रमाणान्तर के द्वारा ब्रह्म में दुःख का अभाव ज्ञात होता है। अतएव आनन्दमय के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि ब्रह्मानन्द की प्रचुरता (वैपुल्य या विपुलता) अन्य आनन्द की अल्पता की अपेक्षा रखता है। और इस अर्थ को तैत्तिरीयोपनिषद् के आनन्दवल्ली की श्रुति 'यह एक मनुष्य का आनन्द है' इत्यादिवाक्य के द्वारा जीवानन्द की अपेक्षा सीमातीत वैपुल्य को बतलाती है।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी सिद्ध नहीं हो सकता है। कि जीव आनन्द का विकार है। क्योंकि ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप जीव का जिस तरह मिट्टी घट आदि के रूप में परिणत हो जाती है उस तरह का परिणाम मानना श्रुतियों में बतलाये गये सभी न्यायों के विपरीत है। और आगे चलकर हम यह बतलायेंगे

कि संसारावस्था में कर्म के द्वारा जीवों के ज्ञान और आनन्द के स्वरूप संकुचित हो जाते हैं। अतएव आनन्दमय शब्द से जीव से भिन्न परम ब्रह्म ही कहे गये हैं।

मूल—इतश्च जीवादन्यःआनन्दमयः परं ब्रह्म तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।१५।

'को ह्येवान्यात् कःप्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति 'इति' एष एव जीवानानन्दयतीति जीवानामानन्द हेतुरवं व्यपदिश्यते : अतश्चानन्दयितव्याज्जीवादानन्दयिताऽयमन्य आनन्दमयः परमात्मेति विज्ञायते। आनन्दमय एवानन्द शब्देनोच्यत इति अनन्तरमेव वक्ष्यते

अनु०—इसलिए भी जीव से भिन्न आनन्दमय परम् ब्रह्म है। 'तद्धेतु व्यपदेशाच्च' अर्थात् चूँकि आनन्दमय परम ब्रह्म ही सभी आनन्दों का कारण बतलाया गया है। तैत्तरीयोपनिषद् के आनन्द वल्ली की यह कोह्येवान्यात् इत्यादि श्रुति बतलाती है कि यदि यह अपरिछिन्न आनन्द एवं रसस्वरूप परमात्मा न होता। तो फिर संसारिक अथवा मोक्ष सम्बन्धी सुख को कौन प्राप्त कर सकता था। अतएव सभी प्रकार के आनन्दों का कारण होने से यह सर्वतः प्रकाश मान (आकाश) स्वरूप आनन्दमय परमात्मा ही प्राप्य है।

इस श्रुति में यह बतलाया गया है कि परमात्मा ही

जीवों को आनन्दित करता है, अतएव इस श्रुति में परमात्मा को जीवों के आनन्द का कारण बतलाया गया है। इसीलिए आनन्दप्रदाता होने के कारण आनन्द प्राप्तकरने वाले जीवों से आनन्दमय को ही आनन्द शब्द से कहा गया है यह हम आगे भी कहने वाले हैं।

सू०— इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः
मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥१६॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। इति मन्त्रवर्णोदितं ब्रह्मैवानन्दमय इति गीयते; तत्तु जीवस्वरूपादन्यत्परं ब्रह्म। तथा हि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति जीवस्य प्राप्यतया ब्रह्म निर्दिष्टम्। 'तदेषाऽभ्युक्ता' इति तत् ब्रह्माभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्यतया परिगृह्य, ऋचेषा अभ्यवृ्भिरुक्ता। ब्राह्मणोक्तस्यार्थस्य वैशद्यमनेन मन्त्रेण क्रियत इत्यर्थः जीवस्योपासकस्य प्राप्यं ब्रह्म तस्माद्विलक्षणमेव। अनन्तरञ्च 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः' इत्यारभ्योत्तरोत्तरे ब्राह्मणैर्मन्त्रैश्च तदेव विशदीक्रियते, अतो जीवादन्य आनन्दमयः।

अनु०— इसलिए भी जीव से भिन्न आनन्दमय है कि 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते'

(अर्थात् आनन्द वल्ली के 'सत्यम् ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति के वर्णों द्वारा कहे गये ब्रह्म ही तस्माद् वा इत्यादि श्रुति में आकाश के कारण रूप से तथा आनन्दमय रूप से बतलाये गये हैं। विकार युक्त संकुचित ज्ञान वाले जीव सत्य ज्ञान-स्वरूप नहीं हो सकते; यह सूत्रार्थ है। ब्रह्म सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त (त्रिविधि परिच्छेद रहित) स्वरूप है। इस मन्त्र के वर्णों से उक्त ब्रह्म ही आनन्दमय शब्द से कहा गया है और वह ब्रह्म जीव से भिन्न ही है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस श्रुति में ब्रह्म को जीव का प्राप्य बतलाया गया है। 'तदेषाऽभ्युक्ता' अर्थात् इस ऋचा में ब्रह्म को ही प्रतिपाद्यरूप से विषय बनाकर अध्येताओं के द्वारा ब्रह्म कहा गया है। इस ब्राह्मण वाक्य के अर्थ का स्पष्टीकरण इस मन्त्र के द्वारा किया गया है। अतएव उपासक जीव से प्राप्य ब्रह्म भिन्न ही है। और आगे के उस प्रसिद्ध परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ इस श्रुति से लेकर उत्तरोत्तर ब्राह्मण मन्त्रों के द्वारा उसी अर्थ को स्पष्ट किया गया है। इसलिए आनन्दमय ब्रह्म जीव से भिन्न ही है।

मूल—अत्राह—यद्यप्युपासकात्प्राप्यस्य भेदेन भवितव्यम्, तथापि न वस्त्वन्तरं जीवात्मान्मातिरिक्तं ब्रह्म किन्तु

तस्यैवोपासकस्य निरस्तसमस्ताविद्यागन्ध निर्विशेष चिन्मात्रैकरसं शुद्धं स्वरूपम् तदेव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (१ तै० आन० १) मन्त्रेण विशोध्यते। तदेव च 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (२ तै आन. ९-अनु) इति वाङ्मनसागोचरतया निर्विशेषमिति गम्यते; अतस्तदेव मान्त्रवर्णिकमिति तस्मादनतिरिक्त आनन्दमय इति। अत उत्तरं पठति—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१७॥

परमात्मन इतरो जीवशब्दाभिलप्यो मुक्तावस्थोऽपि न भवति मान्त्रवर्णिकः। कुतः अनुपपत्तेः। तथा विप-श्चात्मनो निरुपाधिकं विपश्चित्त्वं 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय; इति सत्यसङ्कल्पत्वप्रदर्शनेन विपश्चिद्यते विविधं पश्यच्चित्त्वं हि विपश्चित्त्वम्। पृषोदरादित्वात् पश्यच्छब्दावयवस्य पच्छब्दस्य लोपं कृत्वा व्युत्पादितो विपश्चिच्छब्दः। यद्यपि मुक्तस्य विपश्चित्त्वं सम्भवति तथापि तस्यैवात्मनः संसारदशायामविपश्चित्त्वमप्य-स्तीति निरुपाधिकं विपश्चित्त्वं नोपपद्यते। निर्विशेष

चिन्मात्रतापन्नस्य मुक्तस्य त्रिविधदर्शनाभावात्सुतरां विपश्चित्त्वं न सम्भवतीति ।

अनु०— उपासक एवं प्राप्य में भेद का होना आवश्यक बतलाये जाने पर पूर्व पक्षी अद्वैती विद्वानों का कहना है, यद्यपि उपासक से प्राप्य का भेद होना आवश्यक है फिर भी 'सत्यं ज्ञानं इत्यादि' मंत्र के वर्णों से कहा गया ब्रह्म जीवों से भिन्न नहीं है। बल्कि उस उपासक का ही सम्पूर्ण अविद्या की गंध से रहित निर्विशेष ज्ञान मात्र अखण्ड शुद्धस्वरूप है। उसी का स्पष्टी करण "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस मन्त्र के द्वारा किया गया है। और जिसको मन सहित वाणी अपना विषय बनाये बिना ही लौट आती है।' यह तैत्तिरीय सूत्र मन और वाणीका विषय बनाकर निर्विशेष सिद्ध करती है, वही शुद्धस्वरूप निर्विशेष जीव सत्यं ज्ञानं इत्यादि मन्त्र के वर्णों द्वारा कहा गया है। और आनन्दमय भी उससे भिन्न नहीं है। इस शंका का उत्तर सूत्रकार निम्न सूत्र से पढ़ते हैं "नेतरोऽनुपपत्तेः"।

अर्थात् ब्रह्म से भिन्न मुक्त जीव भी मान्त्र वर्णिक (सत्य-ज्ञानम् इत्यादि श्रुति के द्वारा कथित) नहीं हो सकता क्योंकि उसे ही मान्त्र वर्णिक मानने में निम्न प्रकार की आपत्ति होगी मुक्त जीव स्वाभाविक विपश्चित् नहीं हो सकता क्योंकि स्वाभाविक विपश्चिता का ही विवरण (स्पष्टीकरण) छान्दोग्योपनिषद् के 'उस ब्रह्म ने सत्य संकल्परूप कामना किया कि मैं अनेक

हो जाऊँ तदर्थ प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होऊं' इस श्रुति के सत्य संकल्पत्व प्रदर्शन के द्वारा किया जायेगा। स्वाभाविक स्वतंत्र संकोच रहित सभी विषयों के ज्ञान को ही विपश्चित्ता कहते हैं। । यहाँ पर विविधं पश्यन्ती चित् यस्य' इस प्रकार का बहुब्रीहि समास समझना चाहिए। विपश्चित् शब्द को पृषोदरादि गण मानकर पश्यति शब्द के अवयव भूत यत् शब्द का लोप करके उसकी सिद्धि होती है। यद्यपि मुक्त जीव विपश्चित् हो सकते हैं किन्तु मुक्त होने से पहले संसारावस्था उनमें विपश्चित्ता का अभाव भी रहता है। इसलिए मुक्त जीवों का निरुपाधिक (स्वाभाविक) विपश्चित्त्व सम्भव नहीं है। (पूर्वपक्षी अद्वैती विद्वान निर्विशेष ज्ञान मात्र स्वरूप की प्राप्ति को ही मुक्तता मानते हैं। अतएव उनके मत में तो सभी विषयों के ज्ञान का अभाव सुतराम् असिद्ध होने के कारण मुक्त के विपश्चित्त्व की सिद्धि हो ही नहीं सकती है।

टिप्पणी— 'पृषोदरादित्वात्' इत्यादि वाक्य का आशय है कि 'पृषोदरादीनियथोपदिष्टम्' यह पाणिनि का सूत्र है इस सूत्र के द्वारा प्रसत् शब्द के तकार का लोप होना है उसीतरह विपश्चित् शब्द की सिद्धि के लिए उसे पृषोदरादि गण मानकर पश्यन् के यत् का लोप करके उसका निर्वाह करना चाहिए इस तरह विपश्चित् शब्द का अर्थ है विविध पश्यन्चित्त यहाँ पर चित्त (ज्ञानत्व) का वैविध्य उसका नानाविध अर्थ विषयता है।

सू०–न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषं वस्तु प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेवोक्तम् । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति च वाक्यं यदि वाङ्मनसयोर्ब्रह्मणो निवृत्तिमभिदधीत, न ततो निर्विशेषतां वस्तुनोऽवगमयितुं शक्नुयात् , अपितु वाङ्मनसयोस्तत्राप्रमाणतां वदेत् । तथा च सति तुच्छत्वमेवापद्यते । 'ब्रह्मविदाप्नोति' इत्यारभ्य ब्रह्मणो विपश्चित्त्वं जगत्कारणत्वं ज्ञानानन्दैकतानता-मितरान् प्रत्यानन्दयितृत्वं कामादेव चिदचिदात्मकस्य कृत्स्नस्य स्रष्टृत्वं सृज्यवर्गानुप्रवेशकृततदात्मत्वं भया-भयहेतुत्वं, वाय्वादित्यादीनां प्रशासितृत्वं शतगुणितो-त्तर क्रमेण निरतिशयानन्दत्वमन्यच्चानेकं प्रतिपाद्य-वाङ्मनसयोर्ब्रह्मणि प्रवृत्त्यभावेन निष्प्रमाणकं ब्रह्मे-त्युच्यत इति भ्रान्त जल्पितम् । यतो वाचो निवर्तन्ते इति यच्छब्दनिर्दिष्टम् 'आनन्द' ब्रह्मणो विद्वान् इत्यानन्द शब्देन प्रतिनिर्दिश्य तस्य ब्रह्मसम्बन्धित्वं ब्रह्मण इति व्यतिरेकनिर्देशेन प्रतिपाद्य तस्य वाङ्मा-नसागोचरं विद्वान् इति तद्वेदनमभिदधद्वाक्यं परस्य

वादिवाक्यवदनर्थकं वाच्यानन्तर्गतञ्च स्यात् । अतः शतगुणितोत्तर क्रमेण ब्रह्मानन्दस्यातिशयेयत्तां वक्तुमु द्यम्य तस्येयत्ताया अभावादेव वाङ्मनसयोस्ततो निवृत्तिः 'यतो वाचो निवर्तन्ते इत्युच्यते एवमियत्तारहितं ब्रह्मण आनन्द विद्वान कुतश्चनन बिभेति इत्युच्यते किञ्च अस्य मान्त्रवर्णिकस्य विपश्चितः, सोऽकाम यत (१ तै आन. ६. अनु) इत्यारम्भ वक्ष्यमाणस्व सङ्कल्पावक्लृप्तजगज्जन्मस्थितिजगदन्तरात्मत्वादेर्मुक्ता-त्मस्वरूपादन्यत्वं सुस्पष्टमेव ॥१७॥

अनु०—किसी भी प्रमाण के द्वारा निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है यह मैंने पहले ही कहा है। यतोवाचोनिवर्तन्ते यदि यह वाक्य ब्रह्म से मन और वाणी की निवृत्ति बतलाये तो उसके द्वारा वस्तु की निर्विशेषता को नही जाना जा सकता है। बल्कि यह वाक्य ब्रह्म के मन और वाणी की प्रमाणिकता का अभाव ही बतलायेगा और ऐसा होने पर निर्विशेष ब्रह्म तुच्छ (अभाव) ही सिद्ध हो जायेगा। तैत्तिरीय श्रुति 'ब्रह्मविदा प्नोतिपरम्' ब्रह्मज्ञानी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस वाक्य से प्रारम्भ करके ब्रह्म को विपश्चित जगत का कारण ज्ञान और आनन्द का एक मात्र आश्रय स्वेतर समस्त जीवों को

श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म की सभी कामनायें सत्य हैं, सत्य काम कहने का आशय है कि ब्रह्म के संकल्प और कामना अमोघ होते हैं। कभी व्यर्थ नहीं होते। हम जीवों की भी कामनायें सत्य हैं किन्तु वे अमोघ नहीं है। इसी अर्थ को बतलाते हुए वेदान्त देशिक कहते हैं। कि- "स्वेच्छायां सर्व सिद्धिम् वदति भगवतोऽवाप्त कामत्ववादः" इसलिए ब्रह्म के सादृश ही उनके गुणों को भी सत्यमानना चाहिए अतः यतो वाचो इत्यादि श्रुति ब्रह्म को निर्विशेष न बतलाकर ब्रह्म के गुणों कीइयता (सीमितता) का निषेध करती है।

मूल—इतश्चोभयावस्थात्प्रत्यगात्मनोऽन्य आनन्दमयः—
भेदव्यपदेशाच्च ॥१८॥

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः" (तै. आन. ६ अनु) इत्यारभ्य मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म व्यञ्जयद्वाक्यमन्नप्राणमनोभ्य इव जावादपि तस्य भेदं व्यपदिशति (तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' । (तै. आन. १अनु) इति । अतो जीवाद्भेदस्य व्यपदेशाच्चायं मान्त्रवर्णिक आनन्दमयोऽन्य एवेति ज्ञायते ॥

अनु०—इसलिए भी बद्ध एवं मुक्त दोनों प्रकार के जीवों से भिन्न आनन्दमय है कि-

वादिवाक्यवदनर्थकं वाच्यानन्तर्गतञ्च स्यात् । अतः शतगुणितोत्तर क्रमेण ब्रह्मानन्दस्यातिशयेयत्तां वक्तुमुद्यम्य तस्येयत्ताया अभावादेव वाङ्मनसयोस्ततो निवृत्तिः 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्युच्यते एवमियत्तारहितं ब्रह्मण आनन्द विद्वान कुतश्चनन बिभेति इत्युच्यते किञ्च अस्य आनन्दवर्णिकस्य विपश्चितः, सोऽकामयत (१ तै आन. ६. अनु) इत्यारम्भ वक्ष्यमाणस्व सङ्कल्पावक्लृप्तजगज्जन्मस्थितिजगदन्तरात्मत्वादेर्मुक्तात्मस्वरूपादन्यत्वं सुस्पष्टमेव ॥१७॥

अनु०—किसी भी प्रमाण के द्वारा निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है यह मैंने पहले ही कहा है। यतोवाचोनिवर्तन्ते यदि यह वाक्य ब्रह्म से मन और वाणी की निवृत्ति बतलाये तो उसके द्वारा वस्तु को निर्विशेषता को नहीं जाना जा सकता है। बल्कि यह वाक्य ब्रह्म के मन और वाणी की प्रमाणिकता का अभाव ही बतलायेगा और ऐसा होने पर निर्विशेष ब्रह्म तुच्छ (अन्य ही सिद्ध हो जायेगा। तैत्तिरीय श्रुति 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' ब्रह्मज्ञानी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस वाक्य से प्रारम्भ करके ब्रह्म को विपश्चित जगत् का कारण ज्ञान और आनन्द का एक मात्र आश्रय स्वेतर समस्त जीवों को

श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म की सभी कामनायें सत्य हैं, सत्य काम कहने का आशय है कि ब्रह्म के संकल्प और कामना अमोघ होते हैं। कभी व्यर्थ नहीं होते। हम जीवों की भी काम नायें सत्य हैं किन्तु वे अमोघ नहीं है। इसी अर्थ को बतलाते हुए वेदान्त देशिक कहते हैं। कि– "स्वेच्छायां सर्व सिद्धिम् वदति भगवतोऽवाप्त कामत्ववाद: " इसलिए ब्रह्म के सादृश ही उनके गुणों को भी सत्यमानना चाहिए अतः यतो वाचो इत्यादि श्रुति ब्रह्म को निर्विशेष न बतलाकर ब्रह्म के गुणों कीइयता (सीमितता) का निषेध करती है।

मूल–इतश्चोभयावस्थात्प्रत्यगात्मनोऽन्य आनन्दमय :–
भेदव्यपदेशाच्च ॥१८॥

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश:" (तै. आन. ६ अनु) इत्यारभ्य मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म व्यञ्जयद्वाक्यमन्नप्राण-मनोऽन्य इव जावादपि तस्य भेदं व्यपदिशति (तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय:' । (तै. आन. १अनु) इति । अतो जीवाद्भेदस्य व्यपदेशाच्चायं मान्त्रवर्णिक आनन्दमयोऽन्य एवेति ज्ञायते ॥

अनु०—इसलिए भी बद्ध एवं मुक्त दोनों प्रकार के जीवों से भिन्न आनन्दमय है कि–

भेदव्यपदेशाच्च ।

अर्थात् बद्ध तथा मुक्त सभी जीवों से आनन्दमय परमात्मा का भेद 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय' यह श्रुति भेद बतलाती है।

आनन्द वल्ली की निश्चय ही उस प्रसिद्ध परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ इस श्रुति से लेकर मन्त्र के वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त होने वाले ब्रह्म को अन्नमय प्राणमय तथा मनोमय के ही समान विज्ञानमय जीव से भी ब्रह्म की भिन्नता बतलाता हुआ निम्न वाक्य कहता है। कि निश्चय ही उस प्रसिद्ध विज्ञान प्रचुर जीवात्मासे भीतर अन्तर्यामी रूप से रहने वाला आनन्दमय परमात्मा है। अतएव मन्त्र के वर्णों के द्वारा कथित यह आनन्दमय परमात्मा जीवों से भिन्न है यह पता चलता है।

मूल—इतश्च जीवादन्यः—

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १९ ॥

जीवस्याविद्यापरवशस्य जगत्कारणत्वे ह्यजनो या आनुमानिक प्रधानादिशब्दाभिधेया चिद्वस्तु संसर्गापेक्षा; तथैव हि चतुर्मुखादीनां कारणत्वम्। इह च 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' (तै०आन०६ अनु०) इत्याचितसांगाहितस्य स्वकामादेव निखिल चिदचिद्वस्तुः

सृष्टि २ इदं सर्वमसृजत् । (तै० आन० ६-२) । यदिदं किञ्च इत्याम्नायते । अतोऽस्यानन्दमयस्य जगत्सृजतो नानुमानिकाच्चिद्वस्तुसंसर्गा पेक्षा प्रतीयते ।

अनुवादः—इस लिए भी जीव से भिन्न आनन्दमय है । कि—कामाच्च नानुमानापेक्षा, ।'अर्थात् उस परम्ब्रह्म परमात्मा ने सत्य संकल्प रूप कामना किया कि–मैं अनेक हो जाऊं तथा प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होऊं" इस कामना मात्र से ही प्रकृति निर्पेक्ष जगत् के सृष्टित्व की प्रतीत होने के कारण आनन्दमय जीव से भिन्न ज्ञात होता है ।

जीव को जगत का कारण मानने पर उसे अविद्या पराधीन अवश्य मानना होगा तथा अनुमानिक प्रधान आदि शब्दों से कहे जाने वाली जड़ वस्तु की उसे अवश्य अपेक्षा होगी क्यों कि ब्रह्म (चतुर्मुख) आदि का कारणत्व भी जड़ शरीर सापेक्ष ही देखा जाता है किन्तु कोऽकामयत वहुष्याम प्रजायेय ।

अर्थात उस ब्रह्म ने सत्य संकल्प किया कि मैं अनेक हो जाऊँ तदर्थं प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होऊँ) इस श्रुति के अनुसार प्रकृति के संबन्ध से रहित ब्रह्म की अपनी सत्य संकल्प रूपी इच्छा मात्र से अद्भुत जड़ चेतन वस्तुओं की सृष्टि निम्न छान्दोग्य श्रुति वतलाती है 'जो कुछ भी इस संसार में देखाजाता है । ब्रह्म ने उसकी सृष्टि की ' अतएव इस आनन्दमय परमात्मा को

जगत की सृष्टि करने के लिए आनुमानिक जड़ वस्तु के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं प्रतीत होती है ।

टिप्पणी–इस सूत्र का अभिप्राय है कि ब्रह्मा से लेकर एक छोटे कार्य करने वाले जीव को देखा जाता है कि वह प्राकृतिक शरीर इन्द्रीय आदि में (उपादान, उपकरण, सम्प्रदानादि) निर्पेक्ष होकर किसी भी कार्य का निर्माण नहीं कर सकते किन्तु तैत्तरीय श्रुति के अनुसार उस आनन्दमय परमात्मा ने अपने सत्य संकल्प मात्र से ही सम्पूर्ण जगत की सृष्टि कर दी उसे प्राकृतिक जड़ वस्तु की सहायता की अपेक्षा नहीं हुई.

मूल—इतश्च जीवादन्य आनन्दमय :—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ २० ॥

अस्मिन्–आनन्दमये । अस्य जीवनस्य । तद्योगम् आनन्दयोगम् । शास्ति—शास्त्रन् 'रसो वै सः (तै. आन- ७·१) ॥ रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति । रसशब्दाभिधेयानन्दमयलाभादयं जीवशब्दाभिलपनीय; आनन्दी भवतीत्युच्यमाने मल्लाभात् आनन्दी भवति, स स एवेत्यनुन्मत्तः को ब्रवीतीत्यर्थः ॥ एवमानन्दमयः परं ब्रह्मेति निश्चिते सति यदेष आकाश आनन्दः' विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० ५. ९·२८)

इत्यादिषुआनन्दशब्देनानन्दमय एव परामृश्यते । यथा विज्ञानशब्देन विज्ञानमयः । अतएव 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वन्' इति व्यतिरेकनिर्देशः, (तै० आन० ९-१) अत एव च आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इति फलनिर्देशश्च । उत्तरे चानुवाकेऽन्नानुवाकोदकानामन्न-मयादीनाम् 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् (तै० भृगु २) "प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै० भृगु-३) मनो ब्रह्मेति व्यजानात् (तै०भृगु-४) विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्' इति प्रतिपादनात् (तै० भृगु-५-१) आनन्दो ब्रह्म इत्यप्यानन्दमयस्यैव प्रतिपादनमिति विज्ञायते तत एव च तत्रापि (तै० भृगु—१—१) आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य (तै० भृगु १०—५) इत्युपसंहृतम् । अतः प्रधानशब्दाभिलप्यादर्थान्तरभूतस्य परस्य ब्रह्मणो जीवशब्दाभिलपनीयादपि वस्तुनोऽर्थान्तरत्वं सिद्धम् ॥२०॥

अनु०- इसलिए भी जीव से भिन्न आनन्दमय है कि-

अस्मिन्नस्य च तद्योगमशास्ति—

(अर्थात इस आनन्दमय में भी जीव के आनन्द का योग

शास्त्र बतलाता है ब्रह्म में जीव के आनन्द को बतलाने वाली 'निश्चय ही यह ब्रह्म रसस्वरूप है। उस रसस्वरूप ब्रह्म से ही आनन्द को प्राप्त कर जीव आनन्दित होता है। इस श्रुति में रस शब्द से कहा जाने वाला आनन्दमय की प्राप्ति से यह जीव आनन्दित होता है, ऐसा कहने से जिसके लाभ से जो आनन्दित होता है यह वही है इसतरह उन दोनों की एकता कोई पागल ही कह सकता है। इस तरह आनन्दमय परम् ब्रह्म है ऐसा निश्चय हो जाने पर 'यह जो आकाश आनन्द स्वरूप है' विज्ञान स्वरूप आनन्दस्वरूप ब्रह्म है इत्यादि श्रुतियों में आनन्द शब्द के द्वारा उसी तरह से आनन्दमय बतलाया गया है जिस तरह विज्ञान शब्द के द्वारा विज्ञानमय आनन्द एवं आनन्दमय दोनों की विषय एकता होने के कारण आनन्दमय ब्रह्मणो विद्वान् इस श्रुति में जीव और ब्रह्म का भेद निर्देश किया गया है। इसी लिए ही (जीव और ब्रह्म में भिन्नता होने के कारण ही) ब्रह्मानन्द के ज्ञान का फल ब्रह्म की प्राप्ति को 'आनन्दमय आत्मानमुपसंक्रामति' यह श्रुति बतलाती है। किञ्च आगे के अनुवाक में पहले के अनुवाकों में कहे गये अन्नमय आदि को 'अन्न को ही ब्रह्म जानना चाहिए' 'प्राण को ही ब्रह्म जानना चाहिए' 'मनको ही ब्रह्म जानना चाहिए' 'विज्ञान को ही ब्रह्म जानना चाहिए इत्यादि भृगु वल्ली की श्रुतियों में अन्नमय प्राणमय मनोमय और विज्ञानमयका प्रतिपादन किया गया है इसलिए आनन्द ब्रह्म है

इस श्रुति का आनन्द शब्द आनन्दमय का ही प्रतिपादन करता है यह प्रतीत होता है। इसीलिए इस वाक्य का उपसंहार करते हुए आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त करके इत्यादि फलप्रदर्शन के साथ किया गया है अतएव प्रधान शब्द से कही जाने वाली प्रकृति से भिन्न परम ब्रह्म की जीव शब्दाभिदेय वस्तु से भी भिन्नता सिद्ध हो जाती है।

।। अथ अन्तरधिकरणम् ।।

मूल-यद्यपि मन्दपुण्यानां जीवानां कामाज्जगत्सृष्टिरः श्रुति शयितानन्दयोगो भयाभय हेतुत्वमित्यादि न सम्भवति तथापि विलक्षणपुण्यानामादित्येन्द्रप्रजापतिप्रभृतीनां सम्भवत्येवेतीमामाशङ्का निराकरोति-

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।।२१।।

अनु०- यद्यपि जिन जीवों के पुण्य अल्प मात्रा में हैं वे अपनी इच्छा मात्र से न तो जगत् की सृष्टि कर सकते हैं और न तो सर्वोत्कृष्ट आनन्द के आश्रय बन सकते हैं वे जीव भय और अभय प्राप्ति के कारण भी नहीं बन सकते फिर भी विलक्षण पुण्य वाले सूर्य इन्द्र प्रजापति आदि जीव तो अपनी इच्छा मात्र से जगत् की सृष्टि आदि का कार्य कर सकते हैं। (अतएव उन जीवों को ही जगत् का कारण मानना चाहिए) इस प्रकार की पूर्वपक्षी की शंका का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।।२१।।

अर्थात् उन आदित्य इन्द्र; प्रजापति प्रभृति विलक्षण पुण्य वाले जीवों के भी हृदय में विद्यमान रहकर परमात्मा ही उनका भी नियमन किया करता है क्योंकि परमात्मा में पाये जाने वाले असाधारण धर्म उनके भी धर्म रूप से श्रुतियों में बतलाये गये हैं

अन्तरादित्य विद्या का विचार

मूल—इदमाम्नायते छान्दोग्ये 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः । तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्यर्क्च साम च गेष्णौ इत्यधिदैवतम्, 'अथाध्यात्मम ... ... अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क् तत्साम च तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तन्नाम इति ॥

अनु—छान्दोग्योपनिषद् में श्रुति परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहती है। 'जो यह आदित्य मण्डल भीतर स्वर्णमय परम् पुरुष दिखाई पड़ता है उसके श्मश्रु स्वर्णिम है नख से लेकर सिखा पर्यन्त उसके सभी अंग स्वर्ण के समान

देदिप्यमान एवं मनोरम हैं उस परमात्मा के आखें विकसित कमल दल के सदृश्य मनोहर है, उस परमात्मा का नाम उन् है क्योंकि वह सभी पापों से ऊपर उठा हुआ है जो उपासक उसके इस उन् नाम को जानता है वह सभी पापों से रहित हो जाता है। उत्शब्दाभिधेय परमात्मा के ऋक् और साम् गान विशेष हैं इस तरह परमात्मा के अधिदैवत रूप का उपदेश दिया गया।

छान्दोग्योपनिषद् के (१–७–५) श्रुति में आदित्यमण्डलस्थ परमात्मा के अध्यात्म रूप का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है। 'आखों के भीतर यह जो पुरुष योगियों समाधि काल में ध्यान करके देखा जाता है वही ऋग्वेदात्मक साम् वेदात्मक उक्थात्मक यजुर्वेदात्मक ब्रह्म है। उस प्रसिद्ध अक्षन्तर्वति परम पुरुष का जो रूप है वही रूप आदित्यमण्डलवर्ती परम पुरुष का भी है आदित्यमण्डलवर्ती परम पुरुष के गान विशेष ही आक्षन्तरवर्ती परम पुरुष के गान विशेष हैं। और आदित्यमण्डल वर्ती परम् पुरुष का नाम ही इसका भी नाम है

१ टिप्पणी—य एषोऽन्तरादित्ये- इत्यादि श्रुति में जो य एष यह प्रसिद्धवन् निर्देश किया गया है उसके चलते इस श्रुति को अनुवादकत्व की शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि अनुवाद वहीं पर होता है जहाँ पर पूर्वप्राप्त अर्थ का वर्णन किया जाय प्रस्तुत अधिदैवत आदित्यमण्डलवर्ती हिरण्मय पुरुष का वर्णन पूर्व प्राप्त नहीं है, अतएव यह श्रुति अनुवादिक नहीं है।

दित्यदित्यापत्युत्तर पदण्ण्यः' इस सूत्र मेंण्य प्रत्यय होकर आदित्य शब्द बना है और (वह आदित्यमण्डल का वाचक है। क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् । के 'य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो' इस वाक्य में 'य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिषि पुरुषः' इस तैत्तिरीयक वाक्य में पुरुष का मण्डवर्तित्व सुना जाता है। अतएव यहाँ भी अदित्य शब्द आदित्य मण्डल का ही वाचक है। इस श्रुति में आये हुए हिरण्मय शब्द रमणीयता के वाचक हैं यह वाक्यकार का कहना है। यद्यपि आदित्य मण्डलवर्ती परमपुरुष का दर्शन सभी नहीं कर सकते हैं फिर भी योगीजन उसका साक्षात्कार करते हैं। उसी अभिप्राय से श्रुति दृश्यते पद का प्रयोग बतलाती है। श्रुति भी कहती हैं- सूक्ष्म दर्शीजन अपनी श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करलेते हैं। 'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'।

कप्यास श्रुतिरर्थ विचार

तस्या यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी— इत्यादि वाक्य के ६ अर्थों को छान्दोग्योपनिषद के व्याख्याकार आचार्य ब्रह्मनन्दी ने उपन्यस्त किया है उनमें तीन अर्थ पूर्व पक्ष के रूप में आये हैं तथा तीन अर्थ सिद्धान्त के रुप में-

१- 'कपि चलने' धातु से कपि शब्द की सिद्धि होती है अतएव कपि शब्द आदित्य का वाचक है "कपिर्विभस्तितेजनम्" यह वैदिक प्रयोग भी कपि शब्द को सूर्य का वाचक बतलाता

है कपि=सूर्य का ग्रास उसका मण्डल ही है इस तरह इस वाक्य का अर्थ हुआ कि जिस तरह आदित्य मण्डल तथा हृदय पुण्डरीक परमात्मा की उपासना के स्थान हैं उसी तरह उस उपासक के नेत्र भी उपासना के नेत्र हैं किन्तु पूर्व पक्षी का यह अर्थ उचित नहीं है क्यों कि कप्यासं पुण्डरीकम इत्यादि वाक्य समान विभक्त्यन्त होने के कारण समानाधिकरणक हैं पुण्डरीक के सदृश्य हृदय पुण्डरीक शब्द को गौण मानना होगा किन्तु हृदय पुण्डरीक में 'उपमित' व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे इस सूत्र से समास होने के कारण उपमान तथा उपमेय के वाचक शब्दों के रहने के कारण भी यहाँ पर मुख्य प्रयोग मानना चाहिए साथ ही पूर्वपक्षी ने उपर्युक्त वाक्य का अर्थ करते हुए यह जो कहा है ,यथा आदित्यमण्डलं हृदय पुण्डरीकं परमात्मन उपासनस्थानम् तथा तस्योपासकस्याक्षिणी अप्युपासनस्थानम्" इस वाक्य में उपासनस्थानम् तथा उपासकस्य इन दोनों पदों का अध्याहार करना होगा साथ ही तथा चान्तरादित्य इस उपक्रम वाक्य से भी इस अर्थ का विरोध होगा और अन्तरादित्यविद्या से भी इसका विरोध है अतएव यह अर्थ मान्य नहीं है ।

२– दूसरे प्रकार के पूर्व पक्षी कहते हैं कि कपि मर्कट (वन्दर) का नाम है उसका आस=जघन प्रदेश (चूतड़) ही है । इस तरह यहाँ पर परमात्मा के नेत्रों की समता बन्दर के चूतड़ से दी गयी । किन्तु पूर्वपक्षी के द्वारा इस अर्थ के विषय

में जिज्ञास्य है कि मर्कट पृष्ठ और पुण्डरीक ये दो उपमान हैं अथवा यहाँ एक ही उपमा है। दो उपमा इस लिए नहीं मानी जा सकती है कि स्वतः प्राप्त इस वाक्य के सामानाधिकरण्य का त्याग करना होगा। यदि एक उपमा मानी जाय तो फिर यह अर्थ मानना होगा कि मर्कट पृष्ठ के समान जो पुण्डरीक उसके सदृश परमात्मा के नेत्र हैं। ऐसी स्थिति में कप्यास पद को गौण मानना होगा। साथ ही जिस परमात्मा के सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग हिरण्मय शब्द से अभिहित करके मनोरम बतलाये गये हैं, उस परमात्मा के नेत्रों की उपमा श्रुति मर्कट के पृष्ठ भाग से दें यह कभी सम्भव नहीं है।

३– तीसरे प्रकार के पूर्वपक्षी का कहना है कि यहाँ पर कप्यास पद ईषत् विकसित के अर्थ में आया है। एतएव भगवान् के नेत्रों को यहाँ पर थोड़े-थोड़े विकसित कमल के समान बतलाया गया है। यद्यपि यह अर्थ अत्यन्त अनुचित नहीं है फिर भी कप्यास पद को ईषत् विकसित अर्थ का वाचक मानने में कोई मूल नहीं दिखायी देता है।

४– सिद्धान्त में कप्यास पद की व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि– कम्=जलम् पिबतीति कपिः। सूर्य इत्यर्थः। तेन आस्यते=क्षिप्येत=विकास्यते यत् तत् कप्यासम्। कमलमित्यर्थः। अर्थात् कम् जल को कहते हैं। उसको अपनी किरणों से पीने के कारण सूर्य ही कपि कहलाता है। उस सूर्य के द्वारा विकसित किये जाने के कारण कप्यास शब्द से कमल को कहा

गया है। इसतरह कप्यासं पुण्डरीकम् पद का अर्थ हुआ सूर्य के द्वारा विकसित किया गया कमल। उस कमल के ही द्वारा भगवान् के नेत्रों की तुलना की गयी है। पुण्डरीक के विशेषण-रूप में आये हुए कप्यासं पद की यह सार्थकता है कि जिसतरह से सूर्य के द्वारा विकसित कमल अत्यन्त शोभा सम्पन्न होता है उसी तरह भगवान के नेत्र अत्यन्त हृदयाग्रर्जक हैं।

५- सिद्धान्त में कप्यासम् पद की दूसरी व्युत्पत्ति यह बतलायी गयी है कि- कम्=जलम् पिबतीतिकपिः नालम् तस्मिन्नासते उपविशति=तिष्ठतीति कप्यासम्। अर्थात् नाल के ऊपर टिके हुए कमल पुष्पों के समान मनोज्ञ हैं।

६- छठी व्युत्पत्ति सिद्धान्त के रूप में बतलाते आचार्य ब्रह्मनन्दी ने बतलाया कि-कम्=जल का नाम है। अपि पूर्वक आस उपवेशने धातु से अप्यासम् बना है। 'वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इस व्याकरण के नियमानुसार उपसर्ग अपि के अकार का लोप होकर कप्यास पद बना है। इस तरह कप्यासं पुण्डरीकम् का अर्थ हुआ जलस्थ कमल।

वेदार्थ संग्रह 'नामक ग्रन्थ में भगवान रामानुजाचार्य इस श्रुति का अर्थ करते हुए लिखते हैं-

गम्भीराम्भस्समुद्भूत सुमृष्टनालरविकरविकसित पुण्डरीक दलामलायतेक्षणः।' (अर्थात् गम्भीर जल में उत्पन्न पुष्टनालों से युक्त सूर्य किरणों से विकसित कमल दल के समान स्वच्छ

एवं विशाल नेत्रों वाले) भगवान् को ही कप्यासम् श्रुति बतलाती है ।

कप्यासम् पुण्डरीकम् श्रुति के पुण्डरीकम् पद को लेकर यह प्रश्न उठता है कि अमर कोश में–'पुण्डरीकम् सिताम्भोजम्' कहकर पुण्डरीक शब्द को उजले कमल का वाचक बतलाया गया है। अतएव उजले कमलों से भगवान् के नेत्रों की उपमा कैसे दी गयी है। तो इसका उत्तर है कि पूर्वमीमांसा के नवें अध्याय में शबर स्वामी ने 'मौद्गं' चरु निर्वपेच्छ्रियै श्रीकामं, अर्थात् धन को चाहने वाला व्यक्ति मूँग के चरु को श्री देवी के लिए निर्वाप करे।' इस इष्टि में 'पौण्डरीकाणि बर्हींषि भवन्ति' यह वाक्य पड़ा है अर्थात् कमलमय बर्हि इस इष्टि में होते हैं। इस पर विचार करते हुए आपने कहा कि 'बर्हिः दर्भः स्तृणीत हरितैः' अर्थात् चरु निर्वाप के लिए हरे कुशों को बिछावे। यहाँ पर कुशों के स्थान पर कमलों को लेना चाहिये तथा हरे के जगह पर लाल लेना चाहिये। अर्थात् श्रीयाग में लाल पुण्डरीक को ही बर्हिष के काम में लेना चाहिये। इस तरह पुण्डरीक पद को लाल कमल का ही वाचक मानना चाहिये।

अथा धिदैवतम्–कहकर देवता विशेष आदित्य मण्डल के भीतर अन्तर्यामीरूप से परमात्मा की उपासना बतलायी गयी है, और अध्यात्मक कहकर अपने शरीर के भीतर भावों के नियामकरूप से।

पूर्व पक्ष का प्रारम्भ

मूल— तत्र सन्दिह्यते— किमयमक्ष्यादिमत्यमण्डलान्तरवर्ती पुरुषः पुण्योपचयनिमित्तैश्वर्यः आदित्यादिशब्दाभिलप्यो जीवएव, आहोस्वित्तदतिरिक्तः परमात्मा ? इति । किं युक्तम ? उपचितपुण्यो जीव एवेति कुतः ? सशरीरत्व श्रवणात् । शरीर सम्बन्धो हि जीवाना-मेव सम्भवति । कर्मानुगुणाप्रिया प्रिय योगाय हि शरीर सम्बन्धः । अतएव हि कर्म सम्बन्ध रहिततस्य मोक्षस्य प्राप्यत्वमशरीरत्वेनोच्यते 'न ह वै सशरी-रस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति । सम्भवति च पुण्यातिशयात् ज्ञानाधिक्यं शक्त्याधिक्यञ्च; अतएव लोक कामेशत्वादि तस्यैवोपपद्यते । तत् एव चोपास्य-त्वञ्च फलदायित्व पापक्षपणकरत्वेन मोक्षोपयोगित्वञ्च मनुष्येष्वप्युपचितपुण्याः केचित ज्ञानशक्त्यादिभिरधि-कतरा दृश्यन्ते, ततश्च सिद्धगन्धर्वादयः ततश्च देवाः ततश्चेन्द्रादयः अतो ब्रह्मादिष्वन्यतम् एवं कश्चिदस्मिन

कल्पे पुण्यविशेषेणैवम्भूतमैश्वर्य्यं प्राप्तो जगत्सृष्ट्यादावपि करोतीति जगत्कारणत्वजगदन्तरात्मत्वादिवाक्यमस्मिन्नेवोपचितपुण्य विशेषे सर्वज्ञ सर्वशक्तो वर्तते, अतो न जीवादिरिक्तः परमात्मा नाम कश्चिदस्ति । एवञ्च सति अस्थूलमनण्व ह्रस्वम्' (बृ. ५-८-८) इत्याद यो जीवात्मनः स्वरूपाभि प्राया भवन्ति । मोक्ष शास्त्राण्यपि अतस्वरूपतत्प्राप्त्युपायोपदेशपराणीति ॥

अनु०- यहाँ पर शंका होती है कि- क्या यह नेत्र एवं आदित्य मण्डल के भीतर रहने वाला पुरुष पुण्य तिशय्यके कारण ऐश्वर्य सम्पन्न होने से आदित्य आदित्य आदि शब्दों से कहा जाने वाला जीव ही है? अथवा उससे भिन्न परमात्मा? क्या मानना ठीक है? इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि वह उद्रिक्त पुण्य वाला जीव विशेष ही है। क्योंकि, उसको शरीर विशिष्ट सुना जाता है। और शरीर का संबन्ध जीवों को ही होता है। पूर्वकृत कर्मों के अनुसार प्रिय एवं अप्रिय (सुख एवं दुःख) को भोगने के लिए ही शरीर मिलता है। इसीलिए तो कर्म के संबन्ध से छुटकारा रूप मोक्ष की प्राप्यता शरीर राहित्यरूप से श्रुतियाँ बतलाती हैं। वह श्रुति है- 'निश्चय ही शरीर के सम्बन्ध से युक्त जीव के सुख दुःख का सर्वथा विनाश नहीं होता है। और जो जीव शरीर के सम्बन्ध से रहित होता

है; उसको सुख दुःख स्पर्श नहीं करते हैं। (छा० ८।१२।१) और पुण्यातिरेक के कारण जीव में ज्ञान का आधिक्य तथा शक्ति का आधिक्य देखा भी जाता है। अतएव वही जीव विशेष सांसारिक सभी जीवों की कामनाओं का नियम किया करता है। इसी कारण (उपचित पुण्यवान् तथा सर्व शक्तिमान् होने के कारण) ही सबों का उपास्य है, सभी जीवों के कर्मों का फल प्रदान किया करता है, पापों का नाशक होने से वह ही मोक्षोपयोगी भी है। मनुष्यों में भी जिनका पुण्य अत्यधिक बढ़ गया है, ऐसे कुछ जीव अधिक ज्ञान एवं शक्ति से सम्पन्न देखे जाते हैं। मनुष्यों से बढ़कर सिद्ध एवं गन्धर्व आदि अधिक ज्ञान एवं शक्ति सम्पन्न देखे जाते हैं। उनसे बढ़कर देवता उनसे बढ़कर चन्द्रमा आदि अतएव ब्रह्मा आदि देवताओं में से कोई एक ही, एक-एक कल्प में अपने पुण्य विशेष के द्वारा इस प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करके जगत् की सृष्टि आदि का भी कार्य किया करते हैं। अतएव जगत् के कारणतत्त्व तथा जगत की अन्तरात्मा तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का तात्पर्य इसी ही उपचित पुण्य विशेष वाले सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जीव के प्रतिपादन करने में रहता है। इसलिए जीव से भिन्न परमात्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। और ऐसा मानने पर 'स्थूलत्व अणुत्व, ह्रस्वत्व आदि से रहित' चेतन का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का अभिप्राय

जीवात्मा के स्वरूप के प्रतिपादन में रहता है, यह मानना चाहिये। और मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र भी उसी उद्रिक्त, पुण्यविशेष वाले जीव के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपायों का उपदेश मात्र देते हैं।

सिद्धान्त का प्रारम्भ

मूल– एवं प्राप्तेऽभिधीयते–अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्। अन्तरादित्ये अन्तरक्षिणि च यः पुरुष प्रतीयते स जीवादन्यः परमात्मैव। कुतः? तद्धर्मोपदेशात् जीवेष्वसम्भवेस्तदतिरिक्तस्यैव परमात्मनो धर्मोऽयमपहतपाप्मत्वादिः 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इत्यादिनोपदिश्यते। अपहतपाप्मत्वं ह्यपहतकर्मत्वम्, कर्मवश्यतागन्धरहितत्वमित्यर्थः। कर्माधीन सुख दुःख भागित्वेन कर्मवश्या हि जीवा। अतोऽपहतपाप्मत्वं जीवादन्यस्य परमात्मन एव धर्मः॥

अनु — उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्त रूप में सूत्र उपस्थित होता है—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्। अर्थात् अन्तरादित्य विद्या तथा अन्तराक्षि विद्या में जिस पुरुष की प्रतीत होती है वह जीव से भिन्न परमात्मा ही है। क्योंकि– तद्धर्मोपदेशात्=जीवों के

लिए असंभव जीवों से भिन्न परमात्मा का ही यह अपहतपाप्म त्व आदि धर्म है, जिन धर्मों का उद्देश उस आदित्यादि के अन्तर्यामी पुरुष के धर्म के रूप में श्रुतियाँ करती है, वह श्रुति है— 'वह आदित्य के अन्तर्यामी पुरुष सभी पापों से रहित है।' अपहत पाप्मा का अर्थ है कि वह पुरुष कर्म के सम्बन्ध से रहित है अतएव कर्मपारतन्त्र्य के गन्ध से भी रहित है। कर्म के अधीन रहकर सुख एवं दुःख को भोगने के कारण ही जीव कर्म परतन्त्र है। अतएव अपहत पाप्मत्व जीव से भिन्न परमात्मा का ही धर्म है।

टिप्पणी:— श्रुति का पाप्मभ्यः पद का पाप्मा शब्द पुण्य एवं पाप इन दोनों प्रकार के कर्मों को समान रूप से बतलाता है। इसीलिए भाष्य में उसका विवरण करते हुए बतलाया गया कि- अपहतपाप्मत्वं ह्यपहतकर्मत्वम्। यहाँ पर हि शब्द का प्रयोग बतलाता है कि जहाँ कहीं भी परमात्मा के प्रकरण में पाप्मा शब्द आया है वह पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों का समान रूप से वाचक है। वाक्यकार श्री ब्रह्मनन्दी आचार्य भी इस श्रुति की व्याख्या में पाप्मा पद की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि- 'पाप्मानः-कालजरामृत्युशोकादयः।' अर्थात् काल, जरा (बुढ़ापा), मृत्यु, शोक, आदि, को पाप्मा शब्द से श्रुति ने अभिहित किया है। पुण्यों को भी पाप शब्द से इसलिए अभिहित श्रुति करती है कि यदि वह पुण्य अलौकिक हुआ तो

फिर वह अनिष्ट फलों को प्रदान करता है। क्योंकि मुमुक्षु जीवों के लिए तो स्वर्ग आदि की प्राप्ति अनिष्ट फल ही प्रदान करने वाले हैं। कर्माधीन व राहित्य तथा अपहत पाप्मत्व इन दोनों विशेषों को बतला कर आदित्यान्तर्वर्ती पुरुष को बद्ध मुक्त व्यतिरिक्त बतलाया गया है।

सू०—तत्पूर्वगं स्वरूपोपाधिकं लोक कामेशत्वम् सत्य-सङ्कल्पः' इति। तथा एष सर्व भूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः इति। सोऽकामयत (तै० आन. ६) बहुस्यां प्रजायेयेति इत्यादि सत्य-सङ्कल्पत्वपूर्वकसमस्त चिदचिद्वस्तुसृष्टियोगो निरुपाधिक भयाभयहेतुत्वम् वाङ्मनसपरिमितकृत परिच्छेदरहितानवधिकातिशयानन्दयोग इत्यादयोऽकर्मसम्पाद्याः स्वाभाविका धर्माः जीवस्य न सम्भवन्ति। यत् शरीरसम्बन्धमात्र जीवातिरिक्त इत्युक्तम्। तदेतत् न हि सशरीरत्वं कर्मवश्यतां साधयति सत्य सङ्कल्पस्येच्छयापि शरीरसम्बन्धसम्भवात्। अथोच्येत। शरीर नाम त्रिगुणात्मक प्रकृति परिणामरूपभूतसंघातः, तत्सम्बन्धश्च अपहतपाप्मनः सत्यसङ्कल्पस्य पुरुषस्येच्छ

या न सम्भवात् अनुरूपार्थत्वात् । कर्मवश्यस्यतु स्वस्व रूपानभिज्ञस्य कर्मानुगुण फलोपभोगायानिच्छतोऽपि तत्सम्बन्धोऽवर्ज्जनीय इति स्यादेतदेवम्, यदिगुणत्र यमयः प्राकृतोऽस्य देहस्स्यात् ; सतु स्वाभिमतः स्वानुरूपोऽप्राकृत एवेति सर्वमुपपन्नम् । एतदुक्तं भवति- परस्यैव ब्रह्मणोनिखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैक स्वरूपतया सकलेतरविलक्षणस्य स्वाभाविकानवधिका- तिशयासङ्ख्येयकल्याणगुण गणाश्च सन्ति । तद्वदेव स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनि रतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्य्यं लावण्ययौवना द्यनन्तगुण गण निधि दिव्यरूपमपि स्वाभाविकमस्ति तदेवो पासकानुग्रहेण तत्तत्प्रतिपत्त्यनुरूपसंस्थानं करोति अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्य्य जलनिधि निरस्तनि- खिलहेयगन्धोऽपहतपाप्मा परमात्मा परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायण इति ॥

अनु०— कर्म पारतन्त्र्य रहितत्व पूर्वक स्वाभाविक जीवों की कामनाओं के नियामकत्व सत्य संकल्पत्व आदि तथा सभी भूतों की अन्तरात्मारूप से रहना आदि उस परमात्मा के ही धर्म हैं।

जैसा कि श्रुतियाँ कहती भी हैं–यह आत्मा कर्म पारतन्त्र्य रहित होने के कारण जरा, मृत्यु शोक, भूख, प्यास आदि से रहित है, वह सत्य काम तथा सत्य संकल्प सम्पन्न है। सुबालोपनिषद् की श्रुति उस परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करती हुई कहती है–'यह परमात्मा सभी भूतों की अन्तरात्मा, कर्मपारतन्त्र्य रहित, दिव्य गुण सम्पन्न देदीप्यमान अकेला है और उसका नारायण नाम है।' 'उस परब्रह्म ने सत्य संकल्परूप कामना किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊं, इत्यादि सत्यसंकल्पत्व पूर्वक सम्पूर्ण जड चेतन वस्तुओं की सृष्टि करने का सामर्थ्य, स्वाभाविक भय एवं अभय का कारण, वाणी और मन की विषयता रूप सीमा से अपरिच्छिन्न (अर्थात् वाणी और मन का विषय नहीं बनना) तथा सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्दयुक्तत्व इत्यादि गुण कर्म से सम्पाद्य (प्राप्य) नहीं हैं। इस तरह ये सभी स्वाभाविक धर्म जीवों के नहीं हो सकते हैं।

पूर्व पक्षी का यह जो कहना है कि चूँकि आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती तथा अक्ष्यन्तर्वर्ती पुरुष का शरीर से सम्बन्ध श्रुतियाँ बतलाती हैं, अतएव वह जीव से भिन्न नहीं हो सकता है, तो यह भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि शरीर से युक्त होने मात्र से कर्मपरतन्त्रता की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि जब वह पुरुष सत्यसंकल्प है तो फिर अपनी इच्छा मात्र से भी शरीर धारण कर सकता है।

यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि- त्रिगुणात्मक प्रकृति का जो परिणाम (कार्य) भूत भूतसंघात (पञ्च महाभूतों का सम्मिश्रण) उसी को शरीर कहते हैं। कर्मों के परतन्त्र न रहने वाले सत्यसंकल्पत्व नामक गुण से युक्त पुरुष की अपनी इच्छा से उसका (शरीर का) सम्बन्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि उस शरीर का सम्बन्ध पुरुषार्थ (पुरुष के लिए प्राप्य) नहीं हो सकता है। और जीव तो कर्मों के परतन्त्र रहता है। उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता, अतएव यदि वह नहीं चाहे तो भी अपने पूर्वकृत कर्मों के फलों का उपभोग करने के लिए उसके अनुकूल शरीर का सम्बन्ध अवश्य होगा।

किन्तु पूर्व पक्षी का यह कहना तो तब उचित होता जब कि परमात्मा का भी शरीर गुणत्रयप्रचुर, और प्राकृतिक होता परमात्मा का तो शरीर अपने मनोनुकूल, स्वस्वरूपानुरूप तथा अप्राकृत होता है, अतएव उसका उस प्रकार का (दिव्य) देह धारण संभव ही है।

कहने का अभिप्राय है कि- परंब्रह्म के ही सम्पूर्णत्याज्य दोषों का विरोधी तथा सीमातीत ज्ञान एवं आनन्द का एकमात्र आश्रय होने से उस स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षण स्वाभाविकरूप से सीमातीत सर्वोत्कृष्ट असंख्येय कल्याण करने वाले गुण समूह हैं. उसी तरह उस परंब्रह्म के अपने मनोनुकूल स्वरूपानुरूप रूप युक्त वाङ्मनसातीत, दिव्य, आश्चर्यकर नित्य, दोष रहित सर्वो-

त्कृष्ट, कान्ति, सौन्दर्य, सौगन्ध, सौकुमार्य, लावण्य, यौवन आदि सीमातीत गुण समूह का एकमात्र आकर उनका दिव्यरूप भी स्वाभाविक ही है। उपासकों पर कृपा करके विभिन्न प्रकार के ज्ञान के अनुकूल अपने शरीरों को वही अपार कारुण्य सौशील्य; वात्सल्य; औदार्य एवं ऐश्वर्यों के सागर, समस्त त्याज्य दोषों से रहित, कर्मों के परतन्त्र नहीं रहने वाले परमात्मा परंब्रह्म, पुरुषोत्तम नाम के नारायण बना लेते हैं।

मूल– 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै–भृगु–१) सदेव सोम्येदमग्र आसीत' (छा० ६-२-१) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (ऐतरेय० १-१-१) एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः' (महोप १–अ० १) इत्यादिषु निखिलजगदेककारणतयाऽवगतस्य परस्य ब्रह्मणः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० आन० ५) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० ५–९–२८) इत्यादिष्वेवम्भूतं स्वरूपमित्यवगम्यते । 'निर्गुणम् (आत्मोप) 'निरञ्जनम् अपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः(छा ७-५-१) न तस्य कार्य्यंकरणं च विद्यते न तत्स-

मश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं स देवतानां परमञ्च दैवतम् (श्वे ६·७) स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः, (श्वे० ६—९) सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः 'नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् । आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् सर्वेनिमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणः प्राकृतहेयगुणान् प्राकृतहेय देह सम्बन्धं तत्मूलकर्मवश्यता सम्बन्धं च प्रतिषिध्य कल्याणगुणान् कल्याणरूपञ्च वदन्ति। तदिदं स्वाभा विकमेव रूपमुपासकानुग्रहेण तत्प्रतिपत्त्यनुगुणाकारं देवमनुष्यादि संस्थानं करोति स्वेच्छयैव परमकारुणि को भगवान् । तदिदमाह श्रुतिः 'अजायमानो बहुधा विजायते (पुरुषसूक्तम् इति । स्मृतिश्च 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वा. मधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया । परित्राणाय साधूनां

विनाशाय च दुष्कृताम् इति । साधवो ह्युपासकाः तत्परित्राणमेवोद्देश्यम्, आनुषङ्गिकस्तु दुष्कृतांविनाशः सङ्कल्पमात्रेणापि तदुपपत्तेः । 'प्रकृतिं स्वाम्' इति प्रकृतिः स्वभावः । स्वमेव स्वभावमास्थाय न संसारिणां स्वभावमित्यर्थः । माय वयुनं ज्ञानम् इति ज्ञान पर्य्यायमपि मायाशब्दं नैघण्टुका अधीयते । आह च भगवान् पराशर; समस्ताश्शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः । तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् । समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर । देवतिर्य्यङ्मनुष्याख्या चेष्टावन्ति स्वलीलया । जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा इति । महाभारते चावताररूपस्याप्यप्राकृतत्वमुच्यते न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्यपरमात्मन इति । अतः परस्यैव ब्रह्मणः एवंरूपरूपवत्त्वादयमपि तस्यैव धर्मः । अत आदित्यमण्डलाक्ष्यधिकरणः आदित्यादिजीवव्यतिरिक्तः परमात्मेव ॥२१॥

अनु॰—उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि निम्न श्रुतियों तथा स्मृतियों द्वारा होती है । 'जिस परमात्मा से ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं। हे सोमरस पानार्ह सच्चिद्रूप सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत

मद्रूप ही था।' निश्चय ही सृष्टि से पूर्व अकेला आत्मा ही था। 'उस समय अकेले नारायण ही थे, ब्रह्मा और इन्द्र भी नहीं थे।, इन सभी श्रुतियों से पता चलता है कि सम्पूर्ण जगत् के एक मात्र कारण परं ब्रह्म ही हैं। उस ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करती हुई श्रुतियाँ बतलाती हैं कि–'ब्रह्म सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और त्रिविध परिच्छेद रहित है। वह विज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप है। उस ब्रह्म में कोई प्राकृत गुण नहीं है, तथा उसमें सभी दोषों का अभाव है। वह कर्म पारतन्त्र्य से रहित होने से जरा, मृत्यु, शोक भूख और प्यास से रहित है। वह सत्यकाम और सत्य संकल्प है। 'उसके प्राकृतिक शरीर कार्य) और इन्द्रियाँ (करण) नहीं हैं। परमात्मा के सदृश ही कोई नहीं है उससे बढ़कर कहाँ से होगा। उस परमात्मा की ज्ञान और बल से परिपूर्ण अनेक प्रकार की पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं।' 'उस सभी नियामकों के भी नियामक, तथा देवताओं के भी सब से बड़े दैवत (पूज्य) परमात्मा को।' 'वह परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत् का एक मात्र कारण, करणाधिप (जीव) का भी वह अधिप (नियामक) है। उस परमात्मा का न तो कोई जनक है और न तो कोई नियामक।' 'ब्रह्मज्ञानी परमात्मा के सभी रूपों तथा सभी नामों का विशेष रूप से चिन्तन करके उन्हें नमस्कार किया करते हैं। 'मैं उस तमोगुण से परे आदित्य के समान देदीप्यमान वर्ण वाले उस महान् पुरुष को

जानता हूँ ।' 'उस विद्युत के समान दिव्यविग्रह वाले परं पुरुष से ही सभी निमेषों की उत्पत्ति हुई । इन सभी श्रुतियों के द्वारा बतलाया गया है कि परं ब्रह्म में कोई प्राकृत् त्याज्यगुण नहीं है । परं ब्रह्म का प्राकृत् त्याज्य शरीर से भी सम्बन्ध नहीं है । और शरीर मूलक कर्मपारतन्त्र्य का भी संबन्ध नहीं है इसके साथ ही ये श्रुतियाँ ब्रह्म के कल्याण गुणों तथा कल्याणमय रूप का विधान करती हैं । इस अपने स्वाभाविक दिव्य स्वरूप को ही परमात्मा अपने उपासकों पर कृपा करके उनके प्रतीति के अनुकूल आकार वाले देव मानव आदि अवयवों से युक्त कर देते हैं । परमात्मा चूंकि अत्यन्त करुणा करने वाला है अतएव अपनी इच्छा से ही देव, मानव आदि का शरीर बना लेता है । (उसके इस प्रकार के शरीर को धारण करने में कर्म पारतन्त्र्य काम नहीं करता है ।)

इसी अर्थ को बतलाती हुई श्रुतियाँ भी कहती हैं– यद्यपि परमात्मा उत्पन्न नहीं होता है फिर भी भक्तों पर कृपा करने के लिए वह अनेक शरीरों को धारण कर लेते हैं । इस अर्थ को पुष्ट करती हुई स्मृति भी कहती है– यद्यपि अज विकार रहित और सभी भूतों का नियामक हूँ । फिर भी अपनी प्रकृति को आधार बनाकर मैं अपने ज्ञान के सहारे अनेक रूपों में अवतरित हो जाता हूँ । मैं यह कार्य अपने सज्जन भक्तों की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश करने के लिए करता हूँ ।' प्रकृत गीता वाक्य में साधु शब्द से भगवान् ने अपने उपासकों

को कहा है और उन उपासकों की रक्षा ही भगवान् के अवतार का उद्देश्य है। दुष्टों का विनाश तो भगवान् के सत्य संकल्प होने के कारण अपने संकल्प मात्र से भी कर सकते हैं। इस वाक्य में प्रकृति शब्द से स्वभाव को कहा गया है। अर्थात् भगवान् अपने स्वभाव को ही अधिष्ठान बनाते हैं अवतार में भी जीवों के स्वभाव को नहीं। इस वाक्य में आत्ममायया शब्द के द्वारा भगवान् अपने संकल्प रूप ज्ञान को बतलाते हैं। वेद निघण्टुकार माया वयुनं 'ज्ञानम्' इस वाक्य में मायाको ज्ञान का भी पर्याय माने हैं। श्री विष्णु पुराण में भगवान् पराशर ने भी कहा है– राजन जिसमें ये सभी शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं वही भगवान का महान संसार के विविध रूपों से विलक्षण रूप हैं। हे राजन् वह परमात्मा ही सभी शक्तियों और शरीरों से युक्त देव तिर्यक् (पशु पक्षी) मनुष्य नामक जीवों को अपनी लीला मात्र से चेष्टावान बना देता है। परमात्मा जगत् की सृष्टि जीवों का उपकार करने के लिए करता है। कर्मों के परतन्त्र होकर वह सृष्टि का कार्य नहीं करता। महाभारत में भी परमात्मा के अवतार तथा शरीर को अप्राकृत (दिव्य) बतलाते हुए कहा गया है परमात्मा का शरीर महा भूतों के समूह से नहीं बना है। अतएव परमब्रह्म के उपर्युक्त प्रकार का शरीर होने के कारण अपहत पाप्मत्व भी उस परमात्मा का ही स्वाभाविक धर्म है। अतएव आदित्य

मण्डल तथा नेत्रों का आधार भूत पुरुष आदित्य आदि जीवों से भिन्न परमात्मा ही है।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥२२॥

मूल०—आदित्यादिजीवेभ्यो भेदो व्यपदिश्यतेऽस्य परमात्मनः 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यश्शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति (वृ. ५.७.९) य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति। योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्युश्शरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण इतिचास्यापहतपाप्मनः परमात्मनः सर्वान् जीवान् शरीरत्वेन व्यपदिश्य तेषामन्तरात्मत्वेनैनं व्यपदिशति अतस्सर्वेभ्यो हिरण्यगर्भादिजीवेभ्योऽन्य एव परमात्मेति सिद्धम्।

॥ इत्यन्तरधिकरणम् ॥

अनु०— हिरण्य गर्भ आदि जीवों से श्रुतियों द्वारा परमात्मा का भेद भी बतलाये जाने के कारण आदित्य मण्डलवर्ती पुरुष जीवों से भिन्न है। यह सूत्रार्थ हुआ।

निम्न श्रुतियाँ इस परमात्मा की आदित्य आदि जीवों से भिन्नता बतलाती है। वे हैं 'जो आदित्य के भीतर रहता हुआ आदित्य की अपेक्षा अन्तरङ्ग है जिसे आदित्य नहीं जानता आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर रहकर उनका नियम किया करता है।' या आत्मा के भीतर रहता हुआ आत्मा की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसे आत्मा नहीं जानता आत्मा जिसका शरीर है जो आत्मा के भीतर रहकर उनका नियमन किया करता है। 'जो अक्षर तत्त्व के भीतर सञ्चरण करता हुआ, अक्षर तत्त्व जिसका शरीर है, जिसे अक्षर तत्त्व नहीं जानता जो मृत्यु के भीतर संचरण करता हुआ, मृत्यु जिसका शरीर है' जिसे मृत्यु नहीं जानता, यह सभी भूतों की अन्तरात्मा अपहत पाप्मा (कर्मों के परतन्त्र नहीं रहने वाला) दिव्य कल्याण गुण सम्पन्न अकेले ही देव नारायण हैं। ये सभी श्रुतियाँ कर्मों के अपरतन्त्र परमात्मा के सभी जीवों को शरीर रूप से बतलाकर उनकी अन्तरात्मा रूप से परमात्मा को बतलाती हैं। अतएव सभी हिरण्यगर्भ आदि जीवों से परमात्मा भिन्न है यह सिद्ध हुआ।

इस तरह अन्तराधिकरण समाप्त हुआ।

—:: o ::—

हिन्दी श्रीभाष्य योजना समिति से प्राप्य पुस्तकें:—

१–हिन्दी श्रीभाष्य प्रथम भाग	४–०
२–हिन्दी श्री भाष्य द्वितीय भाग	४– ०
३–हिन्दी श्री भाष्य तृतीय भाग	४–००
४–हिन्दी श्री भाष्य चतुर्थ खण्ड	४–००
५–हिन्दी श्री भाष्य पञ्चम खण्ड	३–००
६–हिन्दी श्री भाष्य षष्ठ भाग	४–००
७–हिन्दी श्री भाष्य सप्तम भाग	४–००
८–हिन्दी श्री भाष्य अष्ठम भाग	४–००

—:—

—: पुस्तक प्राप्ति स्थान :—

१:—हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन योजना समिति
श्याम सदन, मु०–कटरा, पो०–अयोध्या, जि०–फैजाबाद (उ०प्र०)

२:—जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र
स्वामी रामनारायणाचार्यजी महाराज
श्री कोसलेश सदन कटरा, पो०-अयोध्या, जि०-फैजाबाद (उ०प्र०)

३–श्री स्वामी वीर राघवाचार्य शास्त्री
पुरानी यज्ञवेदी, पूर्व फाटक (उत्तर स्थान) पो०–अयोध्या
जि०–फैजाबाद (उ० प्र०)
पि० नं० २२४१२३

मुद्रक :—श्याम मुद्रणालय, श्याम सदन कटरा अयोध्या ।